गद्य-मुक्तावली

अयोध्यानाथ शर्मा एम० ए०

प्रोफेसर, सनातन धर्म कालेज, कानपुर।

प्रकाशक

गौतम ब्रादर्स कम्पनी,

मेस्टन रोड, कानपुर।

१६३३

तृतीय संस्करण

मूल्य

प्रकाशक—
गौतम ग्रादर्स कम्पनी,
मेस्टन रोड, कानपुर।

मुद्रक—
सत्यव्रत शर्मा,
शान्ति प्रेस, शीतलागली—ग्रागरा।

विषय-सूची

हिंदी-गद्य का विकास



विषय-प्रवेश

प्रसिद्ध वैज्ञानिक डार्विन का विकास संबधी सिद्धात सृष्टि की प्राय सभी वस्तुओं पर, किसी न किसी रूप से लागू होता है। ससार की सब वस्तुओं मे आदि काल मे निरतर अस्तित्व के लिए सग्राम (Struggle for existence) होता आ रहा है। जो प्राणी या पदार्थ अधिक बलवान होता है उसके उदर मे निर्बल प्राणी या पदार्थ का समावेश हो जाता है और इस समिलन से धीरे धीरे एक नवीन प्राणी या पदार्थ का जन्म होता रहता है। आज हम विश्व की जितनी वस्तुएँ—मनुष्य, पशु, वृक्ष, पुष्प, पक्षी, जल जन्तु आदि—जिस रूप में देखते हैं उनका आदिम स्वरूप कुछ और ही था, लगातार जीवन सघर्ष के अनतर उनमे आरभ से लेकर अब तक असख्य परिवर्तन एव परिमार्जन हो चुके है, और होते रहेंगे। यही बात ससार की भाषाओ के विषय में भी पूर्णतया कही जा सकती है। किसी भी भाषा को उदाहरण के लिए ले लीजिए। उसके उद्गम की खोज मे उसके प्रवाह के ऊपर की ओर चलिए। आपको उसके क्रमश अनेक रूप दिखाई पडे गे। इसको समझने के लिए अपनी मातृ भाषा को ही क्यों न लिया जाय? इस भाषा का जो स्वरूप इन पक्तियों मे मिल रहा है

वह सौ वर्ष पूर्व नहीं था, वह न चद के 'पृथ्वीराज रासो' मे था, और न नरपतिनाल्ह के 'बीसलदेव रासो' में ही। यदि इनके कुछ और पूर्व के उपलब्ध ग्रथो के पन्ने उलटें तो उनकी भापा का कुछ ऐसा रूप-रग दिखाई पडता है जिसे हम अपनी भापा कहने तक में सकोच करने लगेंगे। उनमें भापा का एक दूसरा ही रूप मिलता है। यदि हम इस भापा-सरिता के स्रोत की ओर और भी बढ जायँ तो थोडी-थोडी दूर पर हमें एक दूसरे से भिन्न धाराएँ उसी प्रकार अलग दिखाई पडेंगी जिस प्रकार प्रयाग मे गगा और जमुना का जल। भापा-सरिता के उद्गम की यह खोज वडी मनोरजक है। अनेक भापा विज्ञानियों ने इस अन्वेपरण में पर्याप्त श्रम किया है। किंतु अभी तक आदिम उद्गम स्थल का पता नहीं चल सका। सब की यात्राएँ एक ही पथ पर हुई भी नही। कुछ दूर तक तो वे प्राय एक साथ जाते हुए देखे जाते हैं, पर आगे चलकर उन्होने अलग अलग मार्ग पकड लिए हैं। इनमें से कुछ का कहना है कि सस्कृत से क्रमश पाली, प्राकृत (महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी आदि) और अपभ्रश भापाएँ निकलीं। फिर भिन्न-भिन्न अपभ्रश भापाओं से राजपूतानी, व्रज और खडी हिंदी का उद्भव हुआ। कुछ दूसरे विद्वानों का कथन है कि सस्कृत कभी साधारण जनता के बोलचाल की भापा नहीं हुई, वह केवल साहित्य की भापा रही है। साधारण लोग सदा से अपने नित्य के व्यवहार मे प्राकृत का ही उपयोग करते रहे हैं। उनकी मूल या आदि प्राकृत से ही वर्तमान भापाओं का क्रमश विकास हुआ है। जो हो, यह

सब मानते हैं कि हिंदी शूरसेन देश (व्रज-मडल) की, अर्थात् शौरसेनी प्राकृत की पुत्री है। प्राकृत के रूपातर अपभ्रश मे प्राचीन हिंदी का स्वरूप वर्तमान है।

इस प्राचीन हिंदी का आरभ विक्रम की आठवीं शताब्दी से माना जाता है। यह समय कुछ ऐसे पद्य ग्रथों के आधार पर अनुमान किया जाता है जिनके नाम मात्र का पता चलता है। लिखित और फिर पद्यात्मक स्वरूप प्राप्त होने के बहुत पहले भाषा को बोलचाल का रूप मिल जाया करता है। जो हिंदी हमे प्राचीनतम ग्रथों में मिलती है वह उस रूप में तुरन्त न पहुँच गई होगी। धीरे धीरे रूपातरित होते होते उसे वह रूप मिला होगा। इससे आठवीं शताब्दी के पूर्व हिंदी भाषा के द्वारा लोग अपने मनोभाव प्रकट करने लग गये होंगे। हिंदी भाषा मे सबसे प्राचीन जो ग्रथ मिलते हैं वे सब पद्य मे हैं। इससे यह अभिप्राय न समझना चाहिए कि पहले लोग नित्य की बातचीत में छद-बद्ध वाक्यों का प्रयोग करते रहे होंगे। ससार की अन्य भाषाओं के प्रारभिक उदाहरण भी हमें पद्य में मिलते हैं।

हिंदी का काल विभाग

इन पद्यात्मक ग्रथों के आधार पर हिंदी का आरभ जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, होना कुछ लोग सातवीं शताब्दी में और कुछ आठवी में मानते हैं। प्रसिद्ध भाषा तत्त्वज्ञ सर जार्ज ग्रियर्सन हिंदी भाषा के १२०० वर्ष का इतिहास निम्न प्रकार से विभाजित करते हैं —

(१) ७०० ई० से १३०० ई० तक चारण (Bardic) काल ,

(२) १५४० ई० से १७०० ई० तक महान (Augustine) काल
(३) १७०० ई० से १८०० ई० तक शुष्क (Barren) काल
(४) १८०० ई० से अब तक पुनर्जाग्रति (Renaissance) काल

इसी पुनर्जाग्रति-काल के अतर्गत गद्य काल माना गया है। इस काल-विभाग मे १३०० से १५४० तक के समय का नामकरण न जाने क्यो नहीं किया गया।

पादरी एडविन ग्रीव्स तथा एफ० ई० के महाशय ने भी अपने-अपने हिंदी साहित्य के इतिहासो मे डाक्टर ग्रियर्सन का अनुसरण किया है। केवल कालों के नाम रखने मे स्वातन्त्र्य प्रदर्शित किया है। इन्होने इन कालोके नाम भिन्न रखे हैं। किंतु जैसा कह चुके हैं, जिन पुस्तको के आधार पर हिंदी का उक्त आरभ काल माना जाता है उनके नाम ही सुने जाते है। इससे जब तक वे मिल न जायँ और उनकी भाषा की परख न हो जाय तब तक उक्त काल-निर्णय ठीक नहीं जान पडता। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने अपने "हिंदी साहित्य का इतिहास" में पर्याप्त विवेचन के बाद विक्रम की ११ वी सदी का मध्य हिंदी का आरभ काल माना है और इस प्रकार उसे भिन्न भिन्न युगों मे बॉट कर प्रत्येक की अवधि निश्चित की है —

(१) आदि काल (वीर गाथा काल) सवत् १०५०—१३७५ वि०
(२) पूर्व मध्य-काल (भक्ति काल) सवत् १३७५—१७०० वि०
(३) उत्तर मध्य काल (रीति काल) सवत् १७००—१९०० वि०
(४) आधुनिक-काल (गद्य काल) सवत् १९००—अब तक

आचार्य श्यामसुन्दरदास ने भी इस काल-विभाग को अपने 'हिंदी भाषा और साहित्य' में स्वीकार किया है। प० रामशंकर शुक्ल ने अपने ग्रंथ में जो युगों के नाम दिए हैं तथा उनकी जो अवधि दी है वह उपर्युक्त विवेचन से अधिक युक्तियुक्त नहीं है। ऊपर के कालों के विषय में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उनका समय ठीक उसी समय से प्रारंभ नहीं होता है जिससे उनका आरंभ होना लिखा है और वे ठीक उसी समय समाप्त नहीं हो जाते हैं जिस समय उनकी अंतिम तिथि लिखी है। वास्तव में साहित्य के किसी काल का आरंभ और अंत गणित के अंकों की भाँति ठीक ठीक नहीं लिखा जा सकता। दूसरी बात इस संबंध में यह स्मरण रखने की है कि इन कालों का नामकरण उस समय की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार किया गया है। यह न समझ लेना चाहिए कि किसी काल विशेष के भीतर केवल एक ही प्रकार की रचनाएँ हुई हैं, और ऐसी रचनाएँ नहीं हुईं जो दूसरे काल के अंतर्गत हो सकें। उदाहरण के लिए आधुनिक काल को लीजिए। आजकल केवल गद्य नहीं लिखा जाता वरन् ऐसी भी रचनाएँ होती हैं जो चारण काव्या तक की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। किंतु आजकल प्रधानता गद्य की है, इसी से इसे गद्य काल कहा गया है।

हिंदी-गद्य का आरंभ

अब तक हिंदी-पद्य का सर्व प्रथम ग्रंथ 'खुमान रासो' माना जाता है। इसका रचना-काल संवत् ६०० के आस पास अनुमान किया जाता है। यद्यपि अब तक खोज में हिंदी-गद्य का कोई ग्रंथ अथवा अवतरण नहीं

(२) १५४० ई० से १७०० ई० तक महान (Augustine) काल
(३) १७०० ई० से १८०० ई० तक शुष्क (Barren) काल
(४) १८०० ई० से अब तक पुनर्जाग्रति (Renaissance) काल

इसी पुनर्जाग्रति-काल के अतर्गत गद्य काल माना गया है। इस काल विभाग मे १३०० मे १५४० तक के समय का नामकरण न जाने क्यो नहीं किया गया।

पादरी एडविन ग्रीव्स तथा एफ० ई० के महाशय ने भी अपने-अपने हिंदी साहित्य के इतिहासो में डाक्टर ग्रियर्सन का अनुसरण किया है। केवल कालों के नाम रखने मे स्वातन्त्र्य प्रदर्शित किया है। इन्होंने इन कालोंके नाम भिन्न रखे हैं। किंतु जैसा कह चुके है, जिन पुस्तकों के आधार पर हिंदी का उक्त आरभ काल माना जाता है उनके नाम ही सुने जाते हैं। इससे जब तक वे मिल न जायँ और उनकी भाषा की परख न हो जाय तब तक उक्त काल-निर्णय ठीक नहीं जान पडता। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने अपने "हिंदी साहित्य का इतिहास" मे पर्याप्त विवेचन के बाद विक्रम की ११ वीं सदी का मध्य हिंदी का आरभ काल माना है और इस प्रकार उसे भिन्न-भिन्न युगों में बाँट कर प्रत्येक की अवधि निश्चित की है —

(१) आदि काल (वीर गाथा काल) सवत् १०५०—१३७५ वि०
(२) पूर्व मध्य-काल (भक्ति काल) सवत् १३७५—१७०० वि०
(३) उत्तर मध्य काल (रीति काल) सवत् १७००—१९०० वि०
(४) आधुनिक-काल (गद्य काल) सवत् १९००—अब तक

आचार्य श्यामसुंदरदास ने भी इस काल विभाग को अपने 'हिंदी भाषा और साहित्य' में स्वीकार किया है। प० रामशंकर शुक्ल ने अपने ग्रंथ में जो युगों के नाम दिए हैं तथा उनकी जो अवधि दी है वह उपर्युक्त विवेचन से अधिक युक्तियुक्त नहीं है। ऊपर के कालों के विषय में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उनका समय ठीक उसी समय से प्रारंभ नहीं होता है जिससे उनका आरंभ होना लिखा है और वे ठीक उसी समय समाप्त नहीं हो जाते हैं जिस समय उनकी अंतिम तिथि लिखी है। वास्तव में साहित्य के किसी काल का आरंभ और अंत गणित के अंकों की भाँति ठीक-ठीक नहीं लिखा जा सकता। दूसरी बात इस संबंध में यह स्मरण रखने की है कि इन कालों का नामकरण उस समय की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार किया गया है। यह न समझ लेना चाहिए कि किसी काल विशेष के भीतर केवल एक ही प्रकार की रचनाएँ हुई हैं, और ऐसी रचनाएँ नहीं हुई जो दूसरे काल के अंतर्गत हो सकें। उदाहरण के लिए आधुनिक-काल को लीजिए। आजकल केवल गद्य नहीं लिखा जाता वरन् ऐसी भी रचनाएँ होती हैं जो चारण काव्यों तक की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। किंतु आजकल प्रधानता गद्य की है, इसी से इसे गद्य काल कहा गया है।

हिंदी-गद्य का आरंभ

अब तक हिंदी पद्य का सर्व प्रथम ग्रंथ 'खुमान रासो' माना जाता है। इसका रचना काल संवत् ९०० के आस-पास अनुमान किया जाता है। यद्यपि अब तक खोज में हिंदी गद्य का कोई ग्रंथ अथवा अवतरण नहीं

मिला, तथापि इसके पहले से बोलचाल में हमारी भाषा का जन्म हो चुका होगा। कारण, यह स्वाभाविक है कि पहले गद्य का जन्म हो और फिर उसे पद्य का रूप मिले। हिंदी गद्य का पहला उदाहरण हमें तेरहवीं शताब्दी के महाराज पृथ्वीराज और चित्तौर के रावल समरसिंह के दान पत्रों में मिलता है। इनमें से 'मेवाड़ की सनद' में से, जो सम्वत् १२२६ की है, कुछ अंश नीचे दिया जाता है —

स्वस्ति श्री श्री चित्रकोट महाराजाधिराज तपे राज श्री श्री रावल जी श्री समरसी वचनातु दा यमा आचारजु ठाकुर रसीकेष कस्य थाने दली सु डायजे लाया अणीराज में थोपद थारी लेवेगा थोपद ऊपरी माल की थाको है थो जनाना मे थारा वसराटाला थो दूजो जावेगा नहीं और थारी वैठक दली में ही जी प्रमाणे परधानबरोबर कारण होवेगा।

इस उद्धरण के रेखांकित वाक्य आजकल भी ज्यों के त्यों बोले जाते हैं। इससे तथा कुछ अन्य प्रमाणों से कुछ विद्वान् इन पट्टों को जाली मानते हैं।

अगली दो शताब्दियों के गद्य के नमूने उपलब्ध नहीं हैं।

आरंभ काल के गद्य के नमूने

पन्द्रहवें शतक के आरंभ (१४०७) में गोरख नाथजी के लिखे हुए 'सिष्ट प्रमाण' नामक गद्य ग्रंथ का पता चलता है। इस ग्रंथ की कुछ पंक्तियाँ अवतरित की जाती हैं —

सो वह पुरुष सपूर्ण तीर्थ स्नान करि चुकौ अर सपूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि कौं दे चुकौ अरु सहस्र यज्ञ करि चुकौ अरु देवता सर्व पूजि चुकौ

थर वितरनि को सतुष्ट करि चुकौ स्वर्ग लोक प्राप्त करि चुकौ जा मनुष्य को मन घ्नमात्र मह्म के विचार वैठो ।

अस्तु, हिंदी गद्य का आरभ विक्रम की पद्रहवीं सदी से मानना ठीक जान पडता है ।

तदनतर महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ (१५७२-१६४२) रचित 'शृङ्गार रस मडल' नामक गद्य ग्रथ हमें मिलता है। यह व्रजभाषा गद्य का पहला नमूना है। इसका यह अश देखिए—

प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषे सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मद हास्य ने जीते है। अमृत समूह ताकरि निकुञ्ज विषै शृगार रस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई ।

इसके बाद इन विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोकुलनाथजी के लिखे तीन ग्रथ—'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', 'दो सौ वैष्णवों की वार्ता' और 'वन यात्रा'—बोलचाल की व्रजभाषा में मिलते हैं। इनका रचना काल सवत् १६२५ और १६५० के बीच है। इन 'वार्ताओं' मे गोकुलनाथजी ने अपने पिता एव पितामह के शिष्य 'वैष्णवों' का हाल लिखा है। यह लोग भिन्न जाति के तथा विभिन्न प्रातों के रहने वाले थे। इस कारण इनके वर्णनों में व्रजभाषा के अतिरिक्त अरबी, फारसी, गुजराती, पजाबी, मारवाडी आदि के अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह कथाएँ पाडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं लिखी गई । इसी से इनकी भाषा में

बनावटीपन नहीं है। गोकुलनाथजी के सीधे-सादे गद्य की बहार देखिए—

जब रात्र एक पहर रही तब श्रीनाथ जी ने वैशाख सुदी चौदस के दिन श्रीगिरधरजी कु आज्ञा करी जो आज गोवर्द्धन पर्वत ऊपर राजभोग अरोगुगो। जब श्रीगिरिधर जी ने मगला करायके श्रीनाथ जी कु पधराए। और पहेले मनुष्य पठाय के मदिर खामा करायो और श्रीनाथ जी कु पधारते अवार गई।

इनके पश्चात् अकबर के समकालीन गग भाट की सवत् १६२७ की लिखी हुई 'चद छद बरनन की महिमा' नाम्नी सोलह पृष्ठ की पुस्तक का पता चलता है। उसकी अतिम दो पक्तियाँ यह हैं—

इतना सुन के पातशाहाजी श्रीअक्बर-शाहाजी आद सेर सोना नाहरदास चारण को दिया इनके डेढ़ सेर सोना होगया।

इसके अनतर 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास का 'अष्टयाम' देखने को मिलता है। इसका समय सवत् १६५७ के लगभग ठहराया जाता है। इस पुस्तक की बानगी देखिए—

तब श्री महाराज कुमार प्रथम श्री वशिष्ठ महाराज के चरण छुइ प्रनाम करत भए। फिर अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए।

नाभाजी के बाद लोक-प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदास का सवत् १६६६ में लिखा हुआ थोड़ा सा गद्य, एक पचनामे के आरभ में, मिलता है। उसे भी देख लीजिए—

श्री परमेस्वर

सवत् १६६६ समये कुआर सुदी तेरमी बार शुभ दीने लिखित पत्र

थ्यादराम तथा कन्हई के अश बीभाग पुर्वम जे थ्याग हुनहु जने मागा जे थ्याग भै प्रमान माना हुनहु जो बीदीत तफसील थ्यस टोडरमल्ल के मह जो बीभाग पद होत।

इसके पश्चात् स० १६७१ की लिखी हुई 'भुवन दीपिका' नामक ज्योतिष ग्रथ की भाषा टीका मिलती है। इसके लेखक का नाम नहीं मालूम हो सका। इस टीका की दो पक्तियाँ देखिए—

जउ थ्यस्री पुत्र तथी प्रछा करई। थ्याठमइ नवमइ स्थानि एक लो शुक्र होइ तउ प्रताप स्वभाव रमतो कहिवउ।

इस अज्ञात-नामा लेखक के बाद जटमल कवीश्वर की संवत् १६८० में लिखी 'गोरा बादल की कथा' मिलती है। इसमें चित्तौर के इतिहास-प्रसिद्ध रत्नसेन पद्मिनी और युवक वीर बादल के त्याग का वर्णन है। इसकी भाषा में खडी बोली की पुट पाई जाती है। नीचे इस ग्रथ का नमूना दिया जाता है —

गोरे की थ्यावरत थ्यावे सा वचन सुनकर थ्यापने पावद की पगडी हाथ में लेकर वाहा सती हुई सो सिवपुर में जाके वाहा दोनो भेले हुए। गोरा बादल की कथा गुरू के वस सरस्वती के महरवानगी से पूरन भई तिस वास्ते गुरू कूँ व सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ। ये कथा सोल से थ्यासी के साल में फागुन सुदी पुनम के रोज बनाई।

इसी समय के लगभग ओरछा-नरेश जसवतसिंह (१६७५-८४) के आश्रित वैकुठमणि शुक्ल ने 'बैशाख माहात्म्य' और 'अगहन माहात्म्य' नामक दो पुस्तकें ब्रजभाषा गद्य में लिखीं।

इनकी भाषा में खड़ी बोली का भी समिश्रण है। इसका उदाहरण 'वैशाख माहात्म्य' से नीचे दी हुई पंक्तियाँ हैं—

सब देवतन की कृपा तै बैकुंठमनि सुकुल श्रीमहारानी श्रीरानी चद्रावती के धरम पढ़िबे के अरथ यह जय रूप ग्रन्थ वैसाष महातम भाषा करत भए। एक समय नारद जू ब्रह्मा की सभा से उठि के सुमेर पर्वत को गए।

आगे चलकर संवत् १७०७ के आस-पास मनोहरदास निरंजनी कृत कुछ गद्य पुस्तकों का नाम सुना जाता है। इनके गद्य की भी दो एक पंक्तियाँ देखते चलिए। आप कहते हैं—

ग्रन्थ को आदि इष्ट देवता है ताको रूप दिखावत है अरु ता ग्रन्थ तीनि विधन ता सिधि करिबे को हिरदै मॉंग ताकी स्वरूप तवन करिकै नमसकार करतु है।

इसके आठ वर्ष बाद संवत् १७१५ के आस-पास जगजी चारण के लिखे 'रत्नमहेशदासो-त वचनिका' हमारे सम्मुख राजपूतानी हिंदी का नमूना उपस्थित करती है। इसकी एक पंक्ति देखिए—

दाली रावा का। भुजेथ रासा का। च्यार जुग रहसी। पर वात कहसी।

इसी राजपूतानी हिंदी का एक स्वरूप (दादूदयाल के शिष्य के शिष्य) दामोदरदास हमारे लिए छोड़ गए हैं। इन्होंने सं० १७१५ के लगभग 'मार्कंडेय पुराण का उल्था किया था। इनकी भाषा की सादगी देखिए—

अथ वदन गुरुदेव कू नमसकार गोबिंद जी कू नमसकार सरब परकार कै सिध साध रिप मुनि जन सरब ही कूँ नमसकार अहो तुम सब साध ऐमी बुधि देहु वा बुधि करिया ग्रथ की बारतिक भाषा अरथ रचना करिए।

आगे चलकर जोधपुर-नरेश यशवतसिंह के पुत्र अमरसिंह (वि० १७३७—१७८१) का गद्य और पद्य मिश्रित 'गुणसार' नामक ग्रथ हमे मिलता है। इसमें राजा सुमति और रानी सत्य-रूपा का वृत्तात है। भाषा इसकी मारवाडी है, लेकिन उसमें खडी बोली भी दिखाई पडती है। इसका कुछ अश उद्धृत किया जाता है —

पाछो कहियो हि पिता जो राजरा शासिवचना सुम्हे आ पदवी पाया जो विमान वैठा वैकुठ जावा छा। सो इम भाँति परस्पर वार्ता कर राजी होयने।

इसी जमाने में 'बिहारी सतसई' की व्रजभाषा गद्य में 'अमर चद्रिका' नाम्नी एक टीका लिखी गई थी। इसके लेखक अमरसिंह कायस्थ (१७६३—१८४०) थे। यह छत्रपुर रियासत के रहने वाले थे। इस चद्रिका की पहली किरण देखिए—

प्रथम मगलाचरन—यह कवि की विनती जान प्रगटत अपनी अधमता अधिकाई धुनि आन जितौ अधम तितनी बड़ी भवबाधा यह अर्थ तिहि हरये को चाहिये। कोऊ बड़ी समर्थ नर बाधा कै सुई हरत

सुरबाधा ब्रह्मादि महादिक की बाधा कौं हरत जु स्याम लखि अगाध राधा तन स्याम की बाधा रहत ना कोई याते मो बाधा हरो । *

ब्रजभाषा-गद्य का एक और नमूना अग्रनारायण दास के स० १८२६ में लिखित 'भक्तमाल प्रसग' मे मिलता है । इसके कुछ वाक्य नीचे लिखे जाते हैं —

तब श्रीकृष्ण अघोरवसी बजाई ब्रज गोपिकानि सुनि राधिका ललिता विशाखादि गोपी आई रासमडल रच्यो रागरग नृत्य गान आलाप आलिगन सभासन भयो ।

इस बीच १८२८ के लगभग बख्तेश ने मतिराम के 'रसराज' का तिलक किया । इसकी भाषा पडिताऊ हिंदी का उदाहरण है । देखिए—

नाइका नाइक जो है ताको आलबित कहैं आधार शृगार रस होत है कौन प्रकार कै आधार कहैं दोप कैं तातैं कवि कहत है कै नाइका नाइक को बरनन करत हो अपनी बुद्धि कै अनुसार तैं ग्रथ को नाम रसराज है सो रस नाइका नाइक के आधीन होत है ।

ऊपर दिए हुए गद्य के अवतरणों के अतिरिक्त भी कुछ फुटकल पक्तियाँ भिन्न भिन्न समय के लेखकों की मिलती हैं, किंतु कोई समूचा ग्रथ उपलब्ध नहीं । इससे उन लेखकों के गद्य का पूरा रूप नहीं देखा जा सकता । इस प्रकार हम

---

* मूल—

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय ।
जा तनकी झाँई परे स्याम हरित दुति होय ॥

देखते हैं कि विक्रम की पन्द्रहवीं से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक हिंदी गद्य की सरिता अनेक धाराओं—व्रज, राजपूतानी, खड़ी आदि—में होकर बहती आई। इस युग में गोस्वामी गोकुलनाथ की 'वार्ताओं' के अतिरिक्त और कोई ग्रंथ अभी तक नहीं मिला। इससे यह न समझना चाहिए कि गद्य में लोग लिखा नहीं करते थे। पद्य की ओर उस समय जनता का रुझान अधिक था, किंतु लोगों की मनोवृत्ति गद्य की ओर आकर्षित हो चली थी।

आधुनिक गद्य के प्रारंभिक लेखक

इन्हीं दिनों अँगरेजों का प्रभुत्व उत्तरी भारत में स्थापित हो चुका था। इनको देशी भाषाएँ सीखने के लिए बोलचाल की भाषा में पुस्तकों की आवश्यकता प्रतीत हुई। कुछ लोगों की धारणा है कि तत्कालीन अँगरेज अधिकारियों के प्रोत्साहन से ही हिंदी गद्य का सूत्रपात हुआ है। यह विचार भ्रम पूर्ण है। उस समय के दो ऐसे लेखकों का पता चलता है जिन्होंने किसी के कहे सुने बिना हिंदी-गद्य में अपने मनोभाव व्यक्त किए थे।

मुंशी सदासुखलाल

उनमें से पहले मुंशी सदासुखलाल (सं० १८०३-१८८१) थे। यह फारसी, अरबी, संस्कृत, हिंदी और उर्दू के अच्छे जानकार थे। उर्दू में इनका तखल्लुस 'नियाज' था और हिंदी में यह 'सुखसागर' उपनाम का प्रयोग करते थे। उर्दू-पद्य में इन्होंने भागवत, रामायण, प्रबोध-चन्द्रोदय आदि का अनुवाद किया। हिंदी में विष्णुपुराण का पद्यबद्ध भाषांतर किया। इनकी भाषा बोलचाल की खड़ी

बोली है। उसमें फारसी या अरबी शब्द नहीं प्रयुक्त हुए। इनकी कोई पुस्तक अभी तक नहीं मिली। 'हिंदी भाषा सार' में उद्धृत 'सुरासुर निर्णय' और 'वार्तिक' इनके यह दो लेख अब तक मिले हैं। 'सुरासुर निर्णय' इनके श्रीमद्भागवत के अनुवाद 'सुखसागर' का एक अध्याय है। उसमें से कुछ अंश नीचे दिया जाता है।—

धन्य कहिये राजा दधीच को कि नारायण की आज्ञा अपने सीस पर चढ़ायी, अपने हाड ऐसे कामी कुटिल अहंकारी को दे दिये कि उसने उन हाड़ों को वज्र बनायकर वृत्रासुर से ज्ञानी से युद्ध किया और उसे मारा। जो महाराज की आज्ञा और दधीच के हाड़ का बज्र न होता तो ग्यारह जनम ताईं वृत्रासुर से युद्ध में सुरवर और प्रबल न होता और जय न पावता।

मुंशीजी की उक्त भाषा इस बात को प्रमाणित करती है कि खड़ी बोली उर्दू से स्वतंत्र होने की चेष्टा आरंभ से ही करने लगी थी। यह कहना भूल है कि उर्दू ही उन दिनों जनता की भाषा थी।

सैयद इंशाअल्ला खाँ

इसी भाषा में इंशा अल्ला खाँ ने अपनी 'रानी केतकी की कहानी' संवत् १८५५ और १८६० के मध्य लिखी। इंशा दिल्ली के निवासी थे। गदर के बाद लखनऊ में नवाब आसफुद्दौला के दरबारी हुए। इनके अंतिम दिन स्वतंत्र एकांतवास में बीते। यह उर्दू-फारसी के मर्मज्ञ विद्वान् और कवि थे। इन्होंने 'हिंदी की छुट और किसी बोली की पुट' तथा 'बाहर की बोली और गँवारी भाषा से रहित

हिंदवी भाषा' में एक मौलिक कहानी लिखने की प्रतिज्ञा की थी। इंशा ने अपना प्रण बहुत खूबी के साथ पूरा किया। इन्होंने उक्त 'कहानी' को शुद्ध हिंदी—खडी बोली—में लिखने का प्रयत्न किया। उर्दूदां होने से उनकी हिंदी बडी चटकीली और मुहावरेदार है, उसमें उर्दू कवि की चुलबुलाहट और अनुप्रासों की भरमार है। इनके वाक्य कहीं-कहीं फारसी ढग के हो गए हैं। जैसे—'सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया है और बात की बात में वह कर दिखाया जिसका भेद किसी ने न पाया।'

इशा की भाषा शैली की झलक इस अवतरण से मिल सकती है—

कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनों राज की नदियों में थे, पक्के चाँदी के थक्के से होकर लोगों को हक्का बक्का कर रहे थे। निवाड़ी, फूलनी, बाजरी, लचकी, मोरपखी, स्यामसु दर, रामसु दर और जितनी ढब की नावें थीं सुनहरी, रूपहरी, किसी किसी में सो सौ लचकें खातियाँ आतियाँ, जातियाँ ठहरातियाँ, फिरतियाँ थी। उन सभी पर खचाखच कुंजनियाँ, रामजनियाँ, डोमिनियाँ भरी हुई अपने अपने करतबों में नाचती गाती बजाती कूदती फाँदती धूमें मचातियाँ, अँगड़ातियाँ, जम्हातियाँ उँगलियाँ नचातियाँ और ढुली पडतियाँ थीं।

इसी जमाने के लल्लूलालजी (स० १८२०-१८८२) के सिर पर हिंदी-गद्य को जन्म देने का सेहरा बाँधा जाता है। यह आगरे के रहने वाले थे। बाद

लल्लूलाल

मे कलकत्ते चले गए। वहाँ फोर्ट विलियम कॉलेज में नौकर हुए। उसके अध्यक्ष जान गिल-क्रिस्ट के कहने पर लल्लूलालजी ने नवागन्तुक अँग्रेज कर्मचारियों के लिए गद्य में 'प्रेम सागर' लिखा। इसमें श्रीमद्भागवत के दशम स्कध की श्रीकृष्ण कथा है। यद्यपि 'प्रेमसागर' में प्रधानता खड़ी बोली की है, तथापि उसमें लेखक की मातृ भाषा (व्रज) का पर्याप्त पुट है। उसमें क्रियाओं के रूप वैसे हैं जैसे अब भी भागवती पडित बोला करते हैं। 'प्रेमसागर' की भाषा में उर्दू के शब्द प्राय नहीं आए। 'रानी केतकी की कहानी' की भाँति इसमें भी यत्र तत्र तुकबदियाँ आगई हैं। उस समय तक गद्य पद्य से नितात मुक्त नहीं हो सकता था। प्रेमसागर की भाषा साफ-सुथरी है, पर उसमें कहीं लवे लवे वाक्य आगए हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'शकुतला नाटक' और 'माधोनल' नामक चार पुस्तकें और लिखी थीं। इन सबमें उर्दू का प्राबल्य है। यहाँ आपकी हिंदी का नमूना 'प्रेमसागर' से दिया जाता है।

श्री शुकदेव जी बोले—महाराज, सबकी रक्षा कर श्रीकृष्ण ग्वाल बालों के साथ में गेंदतड़ी खेलने लगे, और जहा काली था तहा चार कोस तक जमुना का जल विसके विष से खौलता था, कोई पशुपक्षी वहा न जा सकता, जो भूलकर जाता सो लपट से मुलस दह में गिर पचता, और तीर में कोई रूख न उपजता। एक अविनासी कदम तट पर था, सोई था।

जिन दिनों लल्लूलालजी फोर्ट विलियम कॉलेज की नौकरी करते हुए 'प्रेम सागर' की रचना कर रहे थे उन्हीं दिनों आरा (विहार) निवासी प० सदल मिश्र (लगभग १८२४—१६०५) भी गिलक्रिस्ट साहब के ही आदेश से पौराणिक 'नासिकेतोपाख्यान' लिख रहे थे । लेकिन मिश्रजी की भाषा 'प्रेमसागर' से भिन्न है। वह न तो ब्रजभाषा से ओत प्रोत है और न तुक मिलाने वाले पद्य मय गद्य ही से । वह व्यवहार में आने वाली खड़ी बोली है । पर उसमे कहीं-कहीं पर ब्रज और पूरबी हिंदी की झलक आ जाती है। सदल मिश्र की भाषा में मुहावरों और उर्दू के कुछ शब्दो के प्रयोग से जान आ गई है, किंतु वह मँजी न थी। इनकी भाषा का आभास इस अवतरण से मिल जायगा—

मदल मिश्र

किसी समय में ब्रह्मा के पुत्र ऐसे उद्दालक मुनि भए कि जिनके दर्शन से लोग पवित्र होते थे। वेद पुराण श्रुति स्मृति में बहुत निपुण और दाता दयालु कहिए तो वैसे ही, बड़े समर्थ, सब मुनियों में श्रेष्ठ, कि जिनका तपस्या ही धन था, उनके सुहावने आश्रम पर कि जिसको बड़े बड़े मुनि लोग नित्य आय सेवें और जहाँ नाना प्रकार के वृक्षों पर लता छा रही थीं—पिप्पलाद मुनि आन पहुँचे।

उपर्युक्त चार लेखकों में सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा बहुत कुछ मिलती जुलती है। उसमें आजकल के गद्य का आभास मिलता है। इशा और लल्लूलाल की भाषा को वर्तमान गद्य का प्रथम रूप कहने में संकोच होता है। लल्लूलाल की

भापा तो हमे विट्ठलनाथ एव गोकुलनाथ की ब्रजभापा-सरिता का, मुहाने की ओर बढता हुआ, स्वरूप प्रतीत होती है। अत. मुंशी सदासुख को, कालक्रम मे प्रथम होने से, वर्तमान हिंदी-गद्य का प्रथम लेखक मानना समीचीन है।

इस समय, स० १८६० के आसपास, हिंदी गद्य-धारा की प्राण-प्रतिष्ठा हो जाने पर भी अगले प्राय ६० वर्ष तक उसका प्रवाह रुका-सा रहा। कारण, इसी बीच मैकाले की शिक्षा-योजना के अनुसार अँगरेजी शिक्षा का प्रचार आरम्भ हो गया था। इससे देशी भापाओं को धक्का पहुँचा। लेकिन इस काल में भी ईसाई धर्म-प्रचारकों (मिशनरियो) ने अपने धर्म को इस देश में फैलाने के अभिप्राय से हिंदी का आश्रय लिया। उन्होंने अपने पूरे धर्म-ग्रथ, बाइबिल, का अनुवाद ऐसी हिंदी मे करवाया जिसे साधारण देहाती जनता भी अच्छी तरह समझ सके। ग्रामीण शब्दों का प्रयोग इन अनुवादों मे बेधडक हुआ। आगे चलकर इन लोगो ने कलकत्ता, मिर्जापुर आदि स्थानों में प्रेस खोलकर अपनी धर्म पुस्तकों के अतिरिक्त लडकों के पढ़ने के लिए भी कई पुस्तकें प्रकाशित कीं। अपने धर्म का हमारे बीच प्रसार करने के लिए तो अँगरेजों ने हमारी भापा का आश्रय लिया, किंतु राजनीतिज्ञ दॉव पेंच से उन्होंने अदालतों और सरकारी दफ्तरों में उर्दू और फारसी लिपि को प्रोत्साहित किया। परिणाम यह हुआ कि हिंदी बोलचाल की भापा रहते हुए भी उसके साहित्यिक भापा बनने में रुकावट पड गई। इस भापा-सबधी

पक्षपात के फल स्वरूप उर्दू की उन्नति हिंदी से पहले आरभ हो गई। सवत् १८६० मे उर्दू का पहला समाचार-पत्र दिल्ली से निकला। इस स्थिति में भी हिंदी के समर्थक अपनी भाषा की रक्षा में तत्पर दिखाई पडते हैं। राजा शिवप्रसाद ने स० १६०२ में 'बनारस अखबार' निकाला। इसकी भाषा उर्दू थी—क्योंकि उस समय के समाचार पत्रो के पाठक अधिकतर उर्दू जानने वाले ही होते थे—किंतु यह लिखी देवनागराक्षरों में जाती थी। बीच-बीच में उसमें हिंदी के शब्द भी होते थे किंतु उतने नहीं, जितने आजकल पजाब के आर्यसमाजी उर्दू पत्रो में होते हैं। उसकी भाषा की एक झलक देखते चलिए—

यहा जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफा ज़ाहिर हो चुका है। अब वह मकान एक आलीशान बनने का निशाना तैयार हर चेहार तरफ से होगया बल्कि इसके नकशे का बयान पहिले मुन्दर्ज है सो परमेश्वर की दया से साहब बहादुर ने बड़ी तन्देही मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है।

चार-पाँच वर्ष बाद काशी से 'सुधारक' निकाला गया। एक बगाली सज्जन इसके सपादक थे। इसकी भाषा 'बनारस अखबार' से सुधरी हुई होती थी। इन्हीं दिनों स० १६०६ में आगरे से 'बुद्धिप्रकाश' निकला। इसके सपादक मु शी सदासुखलाल थे। इसकी भाषा की भी बानगी देख लेना चाहिए—

स्त्रियो में सतोष और नम्रता और प्रीत यह सब गुण कर्त्ता ने उत्पन्न किए है, केवल विद्या की न्यूनता है जो यह भी हो तो स्त्रियां

अपने सारे ऋण से चुक सकती है, और लड़कों को सिखाना पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है वैसा दूसरों से नहीं।

इतिहास-प्रसिद्ध सवत् १६१४ के राज्यनिप्लव के एक साल पहले राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग मे इंस-पेक्टर हुए। वह हिंदी को पुनर्जीवित करने मे लगे। उन्होंने बालकों के पढने के लिए स्वय पुस्तकें लिखी और दूसरों से भी लिखवाई। प० वंशीधर ने राजा साहब के कहने से 'भारतवर्षीय इतिहास', 'जीविका परिपाटी' और 'जगत वृत्तात' नामक पुस्तकें लिखीं। राजा साहब पहले सरल हिंदी के समर्थक थे। वे कहते थे कि 'जहा तक बन पडे हम लोगों को हर्गिज गैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिए और न सस्कृत की टकसाल कायम करके नये नये ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिए।' राजा साहब यद्यपि 'आम फहम व खास पसद' भाषा लिखने की ताईद करते हैं तथापि आगे चलकर उन्होंने अपने 'इतिहास तिमिर नाशक' आदि अन्य ग्रथ ऐसी भाषा मे लिखे हैं जिसे हिंदी कहने मे हिचकिचाहट होती है। राजा साहब की भाषा का अनुमान इस अवतरण से किया जा सकता है—

राजा शिवप्रसाद

मुसलमान घमड के मारें अपनी रअय्यत की जबान में बात चीत करना बेशक शर्मिन्दगी और बे इज्जती का कारण समझते होंगे, लेकिन उनके महल हिंदुओं की लड़कियो से भरे थे। और उन्हें रात दिन काम ऐसे हिंदुओं से पड़ा करता था जो फ़ारसी से कम वाक़िफ थे। यह घमड धीरे धीरे कम हो गया।

इन्हीं दिनों, आगे चलकर आर्य-समाज के सस्थापक, स्वामी दयानद (स० १८७१–१९४०) का प्रादुर्भाव हुआ। सस्कृत के प्रकांड पडित और गुजराती होने पर भी स्वामीजी ने अपने धर्म को लोक-व्यापी बनाने के विचार से हिंदी का आश्रय लिया। वे बहुत अच्छे वक्ता और लेखक थे। उन्होंने वाणी और लेखनी दोनों से हिंदी के उद्धार और प्रचार मे प्रशसनीय योग दिया। आर्य समाजियो के लिए 'आर्यभाषा' का जानना इन्होंने अनिवार्य कर दिया। पजाब में स्वामीजी का अत्यत प्रभाव था। उस उर्दू के अड्डे मे हिंदी की वैजयती फहराकर स्वामी दयानन्द ने बहुत बडा काम किया। स्वामीजी ने वेदो के भाष्य, नित्यकर्म के ग्रथादि के अतिरिक्त अपने मुख्य ग्रथ 'सत्यार्थप्रकाश' को हिंदी मे ही लिखा। इनकी भाषा मे स्वभावतया कुछ गुजराती की झलक देख पडती है। फिर भी स्वामीजी की हिंदी प्राय विदेशी शब्दों से रहित है। स्वामीजी की हिंदी नीचे के पत्र मे देखिए। यह उन्होंने उपर्युक्त राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद को लिखा था—

स्वामी दयानंद सरस्वती

आपका पत्र मेरे पास आया, देखकर अभिप्राय जान लिया। इससे मुझको निश्चय हुआ कि आपने वेदो से लेकर पूर्वमीमासा पर्यंत विद्या-पुस्तकों से मध्य में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सबधो को जाना नहीं है। इसलिए आपको मेरी बनायी भूमिका का अर्थ भी ठीक ठीक विदित न हुआ।

राजा लक्ष्मणसिंह

जिन दिनों उपरि-उल्लिखित राजा शिवप्रसाद जनता की अस्वाभाविक भाषा को जबरदस्ती 'आम फहम' की जबान कह रहे थे उन्हीं दिनों आगरे में एक दूसरे सरकारी पदाधिकारी वास्तविक हिंदी का चित्र अंकित कर रहे थे। राजा लक्ष्मणसिंह (सं०१८८३-१९५३) ने पहले १९१८ में 'प्रजाहितैषी' पत्र निकाला। फिर कालिदास के जगद्विख्यात 'अभिज्ञान शाकुंतल' का, १९१९ में, गद्यानुवाद किया। आगे चलकर श्लोकों को पद्य में अनूदित कर गद्य-पद्य मयी मनोहर रचना प्रस्तुत की। कुछ दिनों के अनंतर आपने 'रघुवंश' का भी भाषांतर किया। इनका गद्य शुद्ध खड़ी बोली में होता था। उसके वाक्यों की गठन प्रौढ़ और उत्तम होती थी। उसमें उर्दू शब्दों का पूर्ण बहिष्कार सा है। राजा साहब के गद्य में हमें आधुनिक गद्य की झलक दिखाई पड़ती है। यह इस प्रकार का गद्य लिखा करते थे—

याचक तो अपना अपना वांछित पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं परंतु जो राजा अपने अंतःकरण से प्रजा का निर्धार करता है, नित्य चिंता ही में रहता है। पहले तो राज्य बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है, फिर जो देश जीतकर वश किये जाते हैं उनकी प्रजा के प्रतिपालन का नियम दिन रात मन को विकल रखता है।

भारतेंदु का उदय

ऊपर जिन चार-पाँच आधुनिक हिंदी गद्य के प्रारंभ करने वाले सज्जनों का नाम दिया जा चुका है उनके अवतरणों को देखने से पता लग गया होगा कि उन सबकी शैली और भाषा में भिन्नता थी।

कोई खडी-बोली में पडिताऊपन का पुट रखता था, कोई ब्रज भापा की कोमल-कात पदावली का सौंदर्य दिख लाता था, कोई पूर्वी-भापा के प्रभाव से मुक्त न था, कोई हिंदी का हिमायती होते हुए भी उसे उर्दू बीबी के लिवास से सजाता था और कोई बहुत सभालने पर भी अपनी खडी बोली में ब्रजभापा की झलक लाने से नहीं बच सकता था। अब हमारे इतिहास में सवत् १६१४ के राज्य विप्लव के पश्चात् का समय आ गया था। अँगरेजी राज्य की नींव भारत में दृढ हो गई थी। वृटिश शासक अपने राज्य को प्रत्येक दिशा मे सगठित कर रहे थे। जनता में भी इन दिनों राष्ट्रीय भावना जागृत हो चुकी थी। राजनीतिक स्वार्थ वश सरकार तथा अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए जनता देशी भापाओं के उद्धार करने में प्रवृत्त हुई। इस समय यह आवश्यकता थी कि हिंदी गद्य का एक ऐसा रूप निश्चित हो जाय जिसमे पढे-लिखे लोग अपने मनोभाव व्यक्त करें। यह काम किसी साधारण लेखक के बूते का न था। सौभाग्य से इसी समय, काशी में, हरिश्चद्र (सवत् १६०७—१६४१) का आविर्भाव हुआ। इनके पिता बाबू गोपालचद्र ब्रज भापा के सुकवि और नाटककार थे। इनके ससर्ग से हरिश्चद्र की रुचि बाल्यावस्था मे ही साहित्य की ओर झुक गई। यों तो नौ वर्ष की अवस्था मे ही यह कविता करने लगे थे, पर सोलह वर्ष के होने पर इनकी भापा मे ओज, प्रसाद और माधुर्य की पर्याप्त मात्रा रहने लगी। इन्होंने कई क्षेत्रों मे

अपनी प्रतिभा प्रदर्शित की। संवत् १६२५ में इन्होंने बँगला से अनुवाद करके 'विद्यासुंदर नाटक' प्रकाशित किया। इसमें इनके परिमार्जित गद्य का दर्शन हुआ। फिर 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' (जो कुछ दिन बाद 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' हो गया) आदि मासिक पत्र निकाले। १६३० मे उनका प्रथम मौलिक प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' मुद्रित हुआ। फिर धीरे-धीरे 'कर्पूर मंजरी', 'सत्य हरिश्चंद्र', 'भारत दुर्दशा', 'अंधेर नगरी', 'नील देवी', 'चंद्रावली', इत्यादि नाटक-नाटिका लिखे गए। इन नाटकों में ब्रजभाषा की सरल कविता और खड़ी बोली का सुसंबद्ध गद्य लिखने के अतिरिक्त हरिश्चंद्र ने हिंदी में इतिहास लिखना प्रारंभ किया। 'काश्मीर कुसुम', 'बादशाह दर्पण' आदि कुछ थोड़े से इतिहास ग्रंथ लिख पाये ही थे कि अकाल ही काल-राहु ने भारतेंदु को ग्रस लिया। अपने ३४ वर्ष के जीवन एवं १८ वर्ष के साहित्यिक जीवन में हरिश्चंद्र ने हिंदी के लिए वह काम किया जो सैकड़ों वर्ष जीने पर भी अधिकांश लोग नहीं कर पाते। उन्होंने वर्तमान हिंदी गद्य की धाराओं को कई दिशाओं मे बहने देने से रोक कर एक राज-मार्ग मे लगा दिया। इसीलिए लोग भावावेश में उनको आधुनिक हिंदी गद्य का पिता तक कह डालते हैं। इन महापुरुष की भाषा साफ सुथरी, मँजी हुई, ग्रामीणता से रहित और प्रभावशालिनी होती थी। इनकी भाषा में दो प्रकार की शैलियाँ दिखलाई पड़ती हैं। एक को हम विक्षिप्त या प्रलाप शैली कह

सकते हैं । इसमें भाषा जोरदार है, वाक्य छोटे-छोटे हैं, बोल-चाल के शब्द प्रयुक्त हुए हैं, एकाध स्थान पर तो उर्दू के प्रचलित शब्द आगए हैं और कहीं कहीं शब्दों की पुनरुक्ति हो गई है । यह हृदय के मार्मिक भाव अंकित करने के लिए लिखी गई है । 'चंद्रावली नाटिका' की भाषा इस शैली का उदाहरण है । दूसरी शैली सिद्धांत निरूपण संबंधी ग्रंथों में दिखाई पडती है । इसमें भाषा संयत, विचार-पूर्ण और गंभीर है । इस शैली में कहीं कहीं पर संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग किया गया है । 'प्रेम योगिनी' और 'नील देवी' में इनकी यह शैली देखी जा सकती है ।

भारतेंदु के समकालीन अन्य लेखक

हरिश्चंद्र स्वयं तो हिंदी के परम पोषक थे ही उनके प्रभाव से उनके चारों ओर बहुत से अच्छे लेखकों की मंडली तैयार हो गई थी । इस समय कई सुंदर पत्र भी निकलने लगे थे इनमें से उल्लेखनीय 'बिहार बंधु', 'भारत बंधु', 'हिंदी प्रदीप', 'आनंद कादंबिनी', 'पीयूष प्रवाह', 'ब्राह्मण', 'भारतजीवन' और (कुछ आगे चलकर) 'भारतेंदु' हैं । तत्कालीन लेखकों में कुछ ये थे—बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, तोताराम बी. ए., जगमोहन सिंह, श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, केशवराम भट्ट और राधाचरण गोस्वामी । इन्होंने पद्य के अतिरिक्त नाटक, उपन्यास, निबंध आदि भी लिखे ।

बालकृष्ण भट्ट

पंडित बालकृष्ण भट्ट (सं० १९०१-१९७१) गद्य में भारतेंदु-शैली के समर्थक थे । उनकी भाषा में यत्र-तत्र बैसवाडी और पूर्वी हिंदी के शब्द आए हैं ।

अपने भावों को व्यक्त करने के लिए यह कहीं-कहीं अँगरेजी शब्दों का बेधड़क प्रयोग करते थे। मुहावरों में इनकी विशेष रुचि थी। इनकी भाषा में हास्य की मात्रा भी पर्याप्त होती थी। उन्होंने संवत् १९३४ में 'हिंदी प्रदीप' (मासिक पत्र) निकाला। उसमें सामाजिक, राजनीतिक एवं साधारण जीवन संबंधी विषयों पर अनेक लेख लिखे। भट्टजी ने 'सौ अजान और एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' नामक दो छोटे छोटे उपन्यास भी लिखे थे। इनके लेखों के शीर्षक बड़े आकर्षक हुआ करते थे।

तोताराम, बी ए

अलीगढ़ के वकील बाबू तोताराम ने (सं० १९०४-१९५६) भारतेंदु के साथ हिंदी का पक्ष बड़े जोर से लिया था। 'भारतबंधु' पत्र निकालने वाले यही थे। 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में लिखते हुए आपने कई नाटक लिखे थे। उनमें 'कीर्तिकेतु' स्वतंत्र और 'केटो कृतांत' अनूदित हैं। इनके गद्य में ब्रजभाषा के एकाध शब्द आ जाते थे। 'कीर्तिकेतु' की कुछ अवलियों का गद्य देखिए—

मेरे पिता ने आज इस स्थान में एक छोटी सी सभा इकट्ठी की है; इसमें वे सब महाशय विद्यमान हैं जो फाल्गुनी नगरी में घोर युद्ध से शेष बचे थे। हमारे पिता की इस सभा से यह अनुमति लेने का विचार है कि उस प्रबल शत्रु सिसुमार का, जो रामावतीपुरी को रक्षक ग्राम देवताओं समेत नष्ट करता चला आता है, सामना करना उचित है वा निदान सब उसको छोड़कर बैठ जाते हैं।

इसी युग में मारवाड़ी वैश्य लाला श्रीनिवासदास (स० १६०८-१६४४) व्यापारिक कार्यों से समय निकालकर अपने साहित्य-प्रेम का परिचय दिया करते थे। इन्होंने 'रणधीर-प्रेममोहिनी', 'सयोगिता-स्वयवर' और 'तप्तावरण' नाटक और 'परीक्षा गुरु' उपन्यास लिखे थे। इनकी रचनाओं में सासारिक अनुभव की बातों का विशद विवेचन है। इन्होंने मुहावरो का प्रयोग दिल खोलकर किया है। इनकी भाषा में प्रौढता है। उसमें उर्दू शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन्होंने अँगरेजी शैली का अनुसरण करके वक्ता के कथित वाक्यों के अत में 'अमुक ने कहा' 'वह बोले' के-से प्रयोग किए हैं। हिंदी में इस शैली का अनुसरण अब भी वियोगी हरि, उग्र आदि किया करते हैं। इसका उदाहरण देखिए—

श्रीनिवासदास

"आपके कहने मूजिब किसी आदमी की बातो से उसका स्वभाव नहीं जाना जाता, फिर उसका स्वभाव पहचानने के लिये क्या उपाय करें?" लाला मदनमोहन ने तर्क की।

"उपाय की करने की कुछ ज़रूरत नहीं है, समय पाकर सब भेद अपने आप खुल जाता है" लाला ब्रजकिशोर कहने लगे। "मनुष्य के मन में ईश्वर ने अनेक प्रकार की वृत्तिया उत्पन्न की हैं, जिनमें परोपकार की इच्छा, भक्ति और न्यायपरता धर्म प्रवृत्ति में गिनी जाती है।"

इन लोगों से भिन्न लेखन शैली के प्रतिपादक मिर्जापुरी 'प्रेमघन' जी (स० १६१२-१६८०) थे। कवि होने से इन्हें सानुप्रास और अनूठी पदावली-

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

अनुवाद किया । बालकृष्ण भट्ट के उपन्यासों का उल्लेख हो चुका है । नाटकों की रचना में जैसा ऊपर कह चुके हैं, भारतेंदु के अतिरिक्त श्रीनिवासदास, प्रेमघन, राधाचरण, अंबिकादत्त व्यास, तोताराम आदि विद्वान् दत्तचित्त थे । गद्य प्रबंध भी आनद-कादंबिनी', 'ब्राह्मण', 'हिंदी प्रदीप' इत्यादि पत्रों में बहुत निकलते थे ।

नवयुग का आरभ

इस प्रकार हिंदी-सरिता की धारा बहुत चौडी हुई दिखाई पडती है । हर क्षेत्र को सींचने के लिए उसकी धाराएँ फूट निकलीं । किंतु अब भी भाषा के गठन की दृष्टि से उसमें कुछ सुधार होने की आवश्यकता थी। भारतेंदु के प्रभाव से अधिकाश पढे-लिखे लोगों में हिंदी के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया था । उनमें से कुछ उच्च-शिक्षा प्राप्त लोगों ने हिंदी में लिखना भी आरभ कर दिया था । परतु उनमें से कुछ की भाषा पूर्णतया निर्दोष नहीं कही जा सकती । वे यह नहीं समझते थे कि हिंदी के लिए भी व्याकरण के नियमों का पालन आवश्यक था । इस बात की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करनेवाले आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (जन्म स० १९२१) हैं। द्विवेदीजी पहले रेल के दफ्तर मे नौकरी करते हुए साहित्य-सेवा करते थे, फिर उसे छोडकर पूर्णरूप से साहित्य सेवी बन गए । उन्होंने १९०३ में 'सरस्वती' का सपादन कार्य ग्रहण किया । 'सरस्वती' में व्याकरण के नियमों की अवहेलना करने-वालों की कृतियों की बडी कडी आलोचना करके द्विवेदीजी ने

लेसकों के कान सडे किए । इसी बीच विभक्तियों को शब्द से सटाकर अथवा हटाकर लिसने पर बडी चसचस उठ सडी हुई थी। यह समस्या अब तक हल नहीं हुई। हिंदी गद्य का प्रारंभिक रूप परिमार्जित करके उसे साधु भापा का रूप देने का जिस प्रकार भारतेंदु हरिश्चंद्र ने स्तुत्य काम किया है उसी प्रकार उनके पश्चात् आचार्य द्विवेदीजी ने अपनी 'सरस्वती' के द्वारा उसको सजाया और सैकडों अन्य लेसको को इस कार्य के योग्य बनाया । अब हिंदी लेखकों की सख्या की वृद्धि के साथ उनके लेख्य विपयो की सीमा भी अधिक विस्तृत हुई और कई प्रकार की लेसन शैलियाँ भी दृग्गोचर होने लगीं। विपय-विस्तार के कारण हमारी भापा की भावाभिव्यजन-शक्ति बढी। अँगरेजी, बँगला आदि की देसा देसी भापा की ऊपरी सफाई और सजावट के लिए विराम चिन्हों का प्रयोग होने लगा । मुद्रण-यन्त्रों की उन्नति ने भी हिंदी की बाहरी वेश भूपा को सुसज्जित करने में बहुत योग दिया।

कहा जा चुका है कि अब हिंदी का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो चला । नाटक, उपन्यास, निबध, समालोचना इत्यादि के अतिरिक्त इतिहास, विज्ञान, अर्थ शास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, पुरातत्त्व, भ्रमण, जीवनचरित्र, शिक्षा आदि अनेक विपयों पर सुदर रचनाएँ होने लगीं । इन रचनाओं में मौलिक, अन्य भापाओं से अनूदित एव उनके आधार पर लिसित सभी प्रकार की पुस्तकों का समावेश है । इन भिन्न भिन्न विभागों की

अद्यावधि उन्नति तथा प्रगति दिखाने के लिए हम हरेक पर अलग अलग विचार करेंगे।

नाटक

सब से पहले नाटक को लीजिए। कहा जाता है हिंदी का सब से प्रथम नाटक भारतेंदु के पिता गोपालचंद्र का 'नहुपनाटक' है। यह ब्रजभाषा में है। इसके बाद राजा लक्ष्मणसिंह कृत शकुंतला का अनुवाद निकला। फिर भारतेंदु हरिश्चंद्र मौलिक तथा अनूदित नाटकों की रचना करके हिंदी के वास्तविक सर्व प्रथम नाटककार हुए। यही हिंदी नाटको के जनक हैं। फिर इनके समकालीन श्रीनिवासदास के रणधीर प्रेम मोहिनी, केशवराम भट्ट के सज्जाद सबुल, बदरीनारायण चौधरी के भारत सौभाग्य का अवतार हुआ। तोताराम जी, बालकृष्ण भट्ट अथवा अंबिकादत्त व्यास कृत नाटक आकार मे बडे होने से अभिनय के योग्य न हुए। राधाकृष्ण दास, प्रतापनारायण, राधाचरण गोस्वामी के किए हुए अनुवादों का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है। काशी के बाबू रामकृष्ण वर्मा ने बँगला से 'वीरनारी', 'पद्मावती', 'कृष्णकुमारी' आदि कई नाटकों के अनुवाद किए। आगे चलकर तिलिस्माती उपन्यास-लेखक बा० गोपालराम गहमरी ने संवत् १६४७ के पूर्व विद्याविनोद, देशदशा, बभ्रुवाहन तथा चित्रांगदा बँगला से हिंदी को भेंट किया। पुरोहित गोपीनाथ एम. ए ने शेक्सपियर के कुछ नाटकों के अनुवाद किए। इसके पहले ही अवधवासी (अब रायबहादुर) लाला सीताराम (भूपकवि) बी ए. ने

संस्कृत के नाटकों का अनुवाद करना आरंभ कर दिया था। संवत् १९४० में उनका 'हिंदी मेघदूत' छपा। तदनंतर उन्होंने धीरे-धीरे नागानंद, मृच्छकटिक, महावीर चरित, उत्तर रामचरित, मालती-माधव और मालविकाग्नि मित्र भी अनूदित किए। पद्यों के अनुवाद में लालाजी विशेष सफल नहीं हुए। इन्हीं लालाजी ने शेक्सपियर के बहुत से नाटकों का भी हिंदी में अनुवाद किया। इन अनुवादों के गद्य भाग बहुत सरल हिंदी में हैं। संवत् १९७० में आगरा निवासी कविरत्न सत्यनारायण ने भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' का और कुछ दिन बाद उन्हीं के 'मालती माधव' का अत्यंत सुंदर अनुवाद किया। इनके पद्यानुवाद बहुत सरस हैं। गद्य भाग भी कविरत्नजी ने अच्छी तरह अनूदित किया है। इसी बीच कानपुरी राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'चंद्रकला-भानकुमार' नामक मौलिक नाटक लिखा। यह नाटक अभिनय के योग्य नहीं है। किंतु इसमें साहित्यिक दृष्टि से उत्तम कथोपकथन और मनोरम पद्य हैं। रूपनारायण पांडेय, नाथूराम प्रेमी आदि ने गिरीश घोष, बंकिमचंद्र चटर्जी तथा द्विजेंद्रलाल राय के कई प्रसिद्ध बँगला नाटकों के अनुवाद किए। इसी प्रसंग में रंगमंचों पर खेलने के निमित्त लिखने वाले नाटककारों का स्मरण करते चलना चाहिए। व्याकुल भारत नाट्य समिति के संचालक स्वर्गीय विश्वंभरनाथजी 'व्याकुल' के नाटकों ने मौलिक हिंदी के जोरदार नाटकों की थोड़े दिन तक धूम मचा दी थी। उनका गौतम बुद्ध एक उच्चकोटि का अभिनय-योग्य नाटक है।

सं० १६६६ में पंडित नारायणप्रसाद 'वेताब' ने 'महाभारत' लिखा। इसे पारसी अलफ्रेड थियेट्रिकल कंपनी ने खेला। कदाचित यही पहला हिंदी नाटक है जिसे व्यवसायी कपनियों ने जनता को खेलकर दिखाया। कुछ दिन इसकी बडी धूम रही। इसके बाद वेताब जी ने रामायण, पत्नी-प्रताप, कृष्ण-सुदामा, गणेश जन्म आदि पौराणिक नाटक लिखे। आगा हश्र का भक्त सूरदास भी उल्लेख्य है। रगमच पर इसे भी बडी सफलता मिली। प० राधेश्याम कथावाचक ने व्यवसायी कपनियों के लिए नाटक लिखकर धन और प्रसिद्धि प्राप्त की है। इनके नाटकों में वीर अभिमन्यु, परमभक्त प्रह्लाद, श्री कृष्ण अवतार, तथा रुक्मिणी मगल विशेष प्रसिद्ध हैं। हरिकृष्ण जौहर ने पति भक्ति नामक बहुत सफल सामाजिक नाटक लिखा। प० तुलसीदत्त 'शैदा' के भी कई नाटक खेले जाते हैं। इनका 'कृष्णचरित' अच्छा है। इन लोगों ने पारसी रगमच पर उर्दू के स्थान पर हिंदी को आसीन कर प्रशसनीय कार्य किया। प० माधव शुक्ल ने यद्यपि व्यवसायी लोगों के खेलनेके लिए नाटक नहीं लिखे, परतु उनके 'महाभारत' ने अपने समय में लोगों का पर्याप्त मनोरजन किया था।

आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ नाटककार कहे जाने वाले बा० जयशकर प्रसाद ने कई सु दर मौलिक नाटक लिखे हैं। कामना, जनमेजय का नाग यज्ञ, विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु, स्कद गुप्त तथा चद्रगुप्त, इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। प्राचीन भारत की

सभ्यता और संस्कृति का ओजस्वी कवितामय भाषा में प्रदर्शन करके प्रसादजी ने अभिनंदनीय कार्य किया है। इतिहास और कल्पना के योग से प्रस्तुत इन नाटकों मे श्रव्यकाव्य के लक्षण तो हैं, पर अभिनय के योग्य न होने से इन्हें दृश्य-काव्य कहलाने का गौरव नहीं मिल सका। पं० बदरीनाथ भट्ट की 'दुर्गावती' और पं० गोविंद वल्लभ पंत की 'वरमाला' दो अभिनय के योग्य मौलिक रचनाएँ भी थोड़े दिन हुए हमारे सामने आई हैं। पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्रीवियोगी हरि, उग्र, आनंदिप्रसाद श्रीवास्तव, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद आदि ने भी दो-एक नाटक लिखे हैं। इन लोगों के अतिरिक्त अन्य लोगो ने भी इस ओर ध्यान दिया है। नाटकों के साथ नाट्यशास्त्र पर ग्रंथों का लिखा जाना अनिवार्य सा है। आचार्य द्विवेदीजी के छोटे से किंतु आरंभिक 'नाट्यशास्त्र' नामक निबंध के अनंतर अध्यापक श्यामसुंदरदास का 'रूपक रहस्य' इस विषय का उत्तम लक्षण ग्रंथ है। आशा है कि निकट भविष्य में हिंदी में शेक्सपियर, डी एल राय या गिरीश घोष जैसे नाटककार उत्पन्न होंगे।

उपन्यास

भारतेंदु के बाद से लेकर अबतक जितनी रचना—मौलिक एवं अनूदित—उपन्यासों की हुई है, उतनी और किसी विषय के ग्रंथों की नहीं। ला० श्रीनिवास-दास के 'परीक्षागुरु' का उल्लेख हो चुका है। बँगला के नाटकों से भी अधिक उसके उपन्यास हिंदी में भाषांतरित किए गए हैं।

उपन्यास-अनुवादकों मे गदाधर सिंह, रामकृष्ण वर्मा और कार्तिकप्रसाद खत्री के नाम पहले आते हैं। इन लोगों की भाषा में हिंदीपन ही विशेष था, उसमें उर्दू, फारसी या संस्कृत का बहुत कम लगाव था। इनके बाद बा० गोपालराम गहमरी ने बँगला से कई घरेलू विषयों से संबंध रखने वाले उपन्यासों का उल्था किया। इनमें से कुछ के नाम ये हैं—'देवरानी जेठानी', 'तीन पतोहू', 'बड़ा भाई'। प० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी इसी बीच 'वेनिस का बाका' उर्दू से अनूदित किया था। इसकी भाषा संस्कृत-मयी है। प० रूपनारायण पांडेय ने बहुत से प्रसिद्ध बँगला उपन्यासों के अनुवाद करने में बहुत दिनों से लग्गा लगा रखा है। इन्होंने सबसे अधिक अनुवाद किए हैं। प० ईश्वरी-प्रसाद शर्मा ने भी अपने थोड़े समय के जीवन में कई उपन्यासों के अनुवाद किए थे और इधर बा० धन्यकुमार जैन ने कई हास्यपूर्ण उपन्यासों के अनुवाद किए हैं। बंकिम बाबू, रमेशचंद्र दत्त, चंडी चरण, शरच्चंद्र रवींद्र नाथ, राखालदास आदि प्राय समस्त ख्यात-नामा बंगाली उपन्यासकारों की कृतियाँ अनूदित हो चुकी हैं। प० लक्ष्मीधर वाजपेयी और बा० रामचंद्र वर्मा ने उषाकाल आदि कई मराठी उपन्यासों का तथा प० गिरधर शर्मा नवरत्न ने सरस्वतीचंद्र, जयाजयत आदि गुजराती उपन्यासों के अनुवाद किए हैं। रूसी, फ्रेंच और अँगरेजी के उपन्यासों का अनुवाद करनेवालों में बा० रुद्रनारायण अग्रवाल, प० छबिनाथ पांडेय, श्री प्रेमचंद आदि का नामोल्लेख आवश्यक

है। इस प्रकार भारतीय और विदेशी भाषाओं के प्रसिद्ध उपन्यास बडल्ले से हिंदी में आ रहे हैं।

मौलिक उपन्यासकारों में देवकीनंदन खत्री सब से पहले हैं। इन्होंने 'कुसुमकुमारी', 'वीरेंद्रवीर' आदि कई उपन्यास पहले पहल लिखे। किंतु इनकी विशेष प्रसिद्धि 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' नामक दो बडे ऐयारी और तिलिस्म के उपन्यासों से है। हिंदी उर्दू मिश्रित भाषा में कुतूहल बढानेवाली घटनाओं से परिपूर्ण इन उपन्यासों की कुछ दिन बडी धूम रही। मौलिक उपन्यासकार पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने साहित्यिक, सामाजिक आदि भिन्न भिन्न विषयों पर कुल मिलाकर ६५ उपन्यास लिखे हैं। इनके कुछ उपन्यास ये हैं—चपला, लखनऊ की कब्र, गुलबहार, लीलावती, राजकन्या, सेज पर साँप, आरसी में हीरे की कनी, इसे चौवराइन कहें कि डाइन? और शांति कुटीर। इन उपन्यासों में चरित्र चित्रण उच्चकोटि का नहीं हुआ, और न भाषा संबंधी स्थिरता ही दिखाई पडती है, किसी में उर्दू ए मुअल्ला है तो किसी में संस्कृत पूर्ण हिंदी। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने सं० १९५६ में 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और १९६४ में 'अधखिला फूल'—यह दो मौलिक उपन्यास लिखे। इनकी औपन्यासिक कला का नहीं वरन् सरल भाषा का अधिक महत्व है। मेहता लज्जाराम शर्मा ने भी 'धूर्त रसिकलाल', 'आदर्श दंपति', 'आदर्श हिंदू' आदि कई उपन्यासों में प्राचीन हिंदू संस्कृति का अच्छा चित्र दिखाया है। बा० व्रजनंदन सहाय बी० ए०, के

'सौंदर्योपासक' और 'राधाकांत' में शुद्ध साहित्यिक ढंग से मानसिक विचारों का काव्यमय वर्णन है। इन लोगों के अनंतर आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार बाबू धनपतराय बी० ए० (जन्म सं० १९३७) ने उर्दू को छोड़कर हिंदी में लिखना आरंभ किया। यह अपने वास्तविक नाम से नहीं किंतु 'प्रेमचंद' नाम से अमर रहेंगे। प्रेमचंदजी के उपन्यासों में कला की दृष्टि से 'सेवासदन' सर्वोत्तम है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'गबन' इनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। प्रेमचंदजी ने मानव प्रकृति का अत्यंत स्वाभाविक यथातथ्य वर्णन करने में कमाल कर दिया है। इनके वर्णन वर्ण्य विषय का चित्र खींच देते हैं। इनकी भाषा अधिकतर बोलचाल की सरल एवं सरस है, उसमें प्रति दिन प्रयोग में आने वाले मुहावरों की अच्छी पुट रहा करती है। इस युग के दूसरे उदीयमान लेखक थे चंडीप्रसाद 'हृदयेश' (जन्म सं० १९५६) यह थोड़ी आयु में ही, कुछ वर्ष बीते, मर गए। इससे इनकी मौलिक प्रतिभा का पूर्ण विकास दिखाई न दे सका। इनके उपन्यासों में 'मंगल प्रभात' विशेष उल्लेखनीय है। इनकी भाषा में संस्कृतपन अधिक रहता है और उसमें काव्य का सा आनंद आ जाता है। जयशंकरप्रसाद का 'कंकाल' भी उत्तम उपन्यास है। उग्र ने 'इंद्रधनुष', 'बुधुआ की बेटी' आदि कई सामाजिक उपन्यास लिखे हैं। इनकी भाषा बड़ी जोरदार है। वृंदावनलाल वर्मा को हिंदी का एक मात्र ऐतिहासिक उपन्यासकार कहना चाहिए। पं० इलाचंद जोशी तथा पंडित विश्वंभरनाथ कौशिक ने भी

हाल में कुछ उपन्यास लिखे हैं। इनका चरित्र चित्रण सुंदर है। इनके अतिरिक्त अन्य कई उपन्यासकार अपनी कृतियों से हिंदी का भंडार भर रहे हैं।

कहानी

आजकल हम लोगों को इतने अधिक काम रहते हैं कि 'चंद्रकांता संतति' जैसे विशालकाय उपन्यासों के पढ़ने के लिए हममें न तो धैर्य ही होता है और न हमारे पास इस काम के लिए समय ही रहता है। इसलिए अँगरेजी तथा बँगला की देखा-देखी हिंदी-मासिक पत्रिकाओं से भी 'गल्पें' अथवा छोटी छोटी कहानियाँ इस शताब्दी के आरंभ में निकलने लगीं। 'सरस्वती' में उसके जन्मकाल के कुछ दिनों के पश्चात् ही स्वर्गीय गिरिजाकुमार घोष ने 'पार्वती-नंदन' नाम से आख्यायिकाएँ लिखना आरंभ किया था। फिर तो बहुत से अन्य लोगों ने भी मौलिक तथा अन्य भाषाओं से अनूदित कहानियाँ लिखना प्रारंभ कर दिया। आजकल कोई भी ऐसी मासिक पत्रिका नहीं निकलती जिसमें दो एक कहानियाँ न हों। साप्ताहिक एवं दैनिक पत्रों तक में प्रायः छोटी छोटी कहानियाँ अब छपा करती हैं। कुछ लोग अब बहुत सुंदर आख्यायिकाएँ लिखते हैं। प्रेमचंदजी को छोटी छोटी कहानियाँ लिखने में उपन्यास लेखन से अधिक सफलता मिली है। उन्होंने सैकड़ों कहानियाँ लिखी हैं, और बराबर लिखा करते हैं। यह स्वाभाविक चरित्रांकन में बड़े पटु हैं। पं० ज्वालादत्त, पं० विश्वंभरनाथ शर्म्मा 'कौशिक', बा० बदरीनाथ 'सुदर्शन', बा० जयशंकर 'प्रसाद',

पाडेय वेचन शर्म्मा 'उग्र', ऋषभचरण जैन आदि अनेक लेखक अच्छी कहानियाँ लिखा करते हैं। कौशिकजी कहानियों में ग्राम्य चरित्र बहुत अच्छा अकित करते हैं, सुदर्शनजी पजाबी होते हुए भी भावपूर्ण गल्पें सरल हिंदी मे लिखते हैं, प्रसाद की कहानियाँ कवित्व-पूर्ण हुआ करती हैं। बा० चडीप्रसाद 'हृदयेश' भी अत्यत ललित भापा मे सामाजिक कहानियाँ लिखा करते थे। इन लोगों की कहानियों के कई सग्रह निकल चुके हैं। ज्वालादत्त शर्मा, रायकृष्णदास, उग्र, विनोद शकर व्यास तथा अन्य बहुत से कहानी-लेखक हमारे आख्यायिका-साहित्य के निर्माण में लगे हुए हैं। इन मौलिक आख्यायिकाओं के साथ कुछ लोग बगाल, फ्रेंच, रूसी, इटालियन आदि की प्रसिद्ध कहानियों के अनुवाद किया करते हैं। यह विशेषकर मासिक पत्रो मे मुद्रित हुआ करती है।

भारतेंदु के समकालीन कुछ लेखक स्थायी साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त त्योहार, उत्सव, ऋतु आदि पर निबध लिखा करते थे। प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट आदि ने ऐसे विषयों पर अपनी अपनी रुचि के अनुसार लेखनी चलाई। इनके बाद पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने प्रसिद्ध अँगरेज निबध-लेखक लार्ड बेकन के कुछ निबधो का अनुवाद 'बेकन विचार रत्नावली' नाम से किया, और प० गगाप्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी लेखक चिपलूणकर के कई निबध 'निबध मालादर्श' में अनूदित किए। द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के सपादन-काल मे उसमें अगणित

निबध

निबध भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखे। पर इनमें से केवल कुछेक को छोड़कर अधिकाँश चलते विषयों पर हैं। इनके स्थायी विषयों पर विचारात्मक लेख थोड़े ही हैं। इन लेखों के कई सग्रह थोड़े दिनों से निकल रहे हैं, जैसे 'सुकवि सकीर्तन', 'अद्भुत आलाप', 'विचित्र चित्रण', आदि। प० माधवप्रसाद मिश्र (सपादक 'सुदर्शन') इसी समय उत्पन्न हुए थे। इनके ओजस्वी, प्रभावशाली एव गभीर लेख थोड़े दिनों तक देखने को मिले। अकालमृत्यु ने इन्हें हमसे बड़ी जल्दी छीन लिया और इनकी प्रतिभा का प्रस्फुटन मात्र देखने को मिला। बाबू बालमुकुद गुप्त (स० १६२२) ने अपने समय की स्थिति पर बहुत अच्छे निबध लिखे। इनका 'शिव शभु का चिट्ठा' बड़ी जानदार भाषा में है। उर्दू के अच्छे विद्वान् एव लेखक होने के कारण गुप्तजी की भाषा में जीवट, चलतापन और विनोद का पूर्ण परिपाक है। पडित गोविंदनारायण मिश्र ने गद्यकाव्यात्मक सस्कृत की अलकारिक भाषा में कई निबध लिखे थे। कुछ लोग इन्हें हिंदी का बाण कहते हैं। अनुप्रासों में इनकी विशेष रुचि थी। हास्यरसात्मक गद्य लिखने वाले पडित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी (स० १६३२) बाबू बालमुकुद के मित्र हैं। गुप्तजी के 'भारतमित्र' में चतुर्वेदी जी बराबर लिखा करते थे। इन्हें अनुप्रासमयी भाषा लिखने का ही नहीं, बोलने तक का रोग सा है। इन्होंने किसी स्थायी विषय पर कुछ नहीं लिखा। बाबू पूर्णसिंह के यद्यपि तीन-चार लेख उपलब्ध हैं तथापि उनमें उनकी मौलिक

शैली व्यजित होती है। आचार्य रामचद्र शुक्ल विचारात्मक गभीर निबध लिखने में अद्वितीय हैं। इन्होंने बहुत से मनोवैज्ञानिक निबध भी लिखे हैं। अध्ययन के लिए, शुक्लजी के निबध बहुत गूढ होते हैं। 'विचार वीथी' नाम से इनका एक निबध सग्रह थोडे दिन हुए छपा है। बाबू गुलाबराय एम० ए० ने भी विचार तथा भाव-पूर्ण कई निबध लिखे हैं और समय-समय पर लिखा करते हैं। दार्शनिक निबध लेखकों मे ला० कन्नोमल और बाबू गगाप्रसाद उपाध्याय का उल्लेख आवश्यक है। आजकल गद्यकाव्यात्मक विक्षेप शैली के निबध लिखने की ओर भी कुछ लोग प्रवृत्त है। श्रीचतुरसेन शास्त्री का 'अतस्तल', श्रीरायकृष्णदास की 'साधना', 'भावना' आदि एव श्रीवियोगी हरि की 'तरगिणी' 'पगली' और 'अतर्नाद'—इस शैली के ग्रथ है। इनके भाव और उनके व्यक्त करने के ढग श्रेष्ठ और मनोरम हैं। श्रीवियोगी हरि का 'साहित्य विहार' गद्य पद्य मिश्रित अपने ढग का अनोखा गद्य ग्रथ है। श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी बी० ए०, ने भी कई विषयों पर अध्ययन पूर्ण निबध लिखे हैं, जिनसे उनकी विद्वत्ता, विचार-शैली आदि का पता चलता है। 'साहित्य विमर्श', 'विश्व-साहित्य' और 'पच पात्र' बख्शीजी के लेखों के सग्रह ग्रथ हैं, इनमें कई अच्छे निबध स्थायी विषयों पर हैं।

समालोचना

आरभ मे किसी पुस्तक के गुण दोष दिखाना ही कदाचित् हमारे यहाँ हिंदी में समालोचना समझी जाती थी। प० बदरीनारायण ने अपनी

'आनंदकादंबिनी' पत्रिका में लाला श्रीनिवासदास के 'सीतास्वयंवर' नाटक की बड़ी तीव्र आलोचना की थी। संभवत यहीं से हिंदी में समालोचना का सूत्रपात हुआ। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी 'कालिदास की आलोचना' लिखकर ग्रंथ प्रणयन का आरंभ किया। द्विवेदीजी ने 'विक्रमांकदेव-चरित-चर्चा' और 'नैषध-चरित-चर्चा' में इन ग्रंथों की विशेषताएँ दिखाईं। 'कालिदास की निरंकुशता' में उन्होंने कालिदास के व्याकरण-संबंधी दोषों की आलोचना की। द्विवेदीजी ने यद्यपि हिंदी के किसी कवि की अँगरेजी के ढंग से साहित्यिक समीक्षा नहीं की, तथापि उन्होंने 'सरस्वती' में अपने समय की पुस्तकों की भाषा, व्याकरण आदि की अशुद्धियों पर बड़ी तीव्र आलोचनाएँ कीं। इनसे भावी लेखक सँभल गये। मिश्रबंधुओं (रा० बा० पं० श्यामबिहारी मिश्र, एम०ए० और रायबहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र, बी०ए०) ने 'हिंदी नवरत्न' में हिंदी के नौ (और अब दस) प्रसिद्ध कवियों पर आलोचनात्मक निबंध लिखे। कवियों की आलोचना पहले-पहल इसी ग्रंथ से आरंभ हुई। इन लोगों की सम्मतियाँ यद्यपि सर्वग्राह्य नहीं हैं तथापि उन्होंने इस ओर ध्यान आकर्षित कर स्तुत्य कार्य किया है। इसके कुछ दिन पश्चात पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के विषय में बहुत बढ़िया आलोचनात्मक ग्रंथ लिखा। बिहारी के दोहों को 'आर्या सप्तसती' तथा 'गाथा सप्तसती' के पद्यों और हिंदी के अन्य पूर्व तथा परवर्ती कवियों की रचनाओं से तुलना कर शर्माजी ने हिंदी में तुलनात्मक

समालोचना का प्रारंभ किया । किंतु शर्माजी ने विहारी की विशेषताओं के अन्वेषण और अंतःप्रवृत्तियों के उद्घाटन का जो आधुनिक समालोचना का प्रधान लक्ष्य समझा जाता है—प्रयत्न नहीं किया। तुलनात्मक समालोचना को पं० कृष्णविहारी मिश्र, बी० ए०, एल-एल० बी० ने 'देव और विहारी' और 'मतिराम ग्रंथावली' रचकर आगे बढ़ा दिया। यह भी मानवीय अंतःकरण में प्रविष्ट होनेवाली कवि की रचनाओं के भीतर नहीं घुस सके। आगे चलकर पं० रामचंद्र शुक्ल ने सर्व प्रथम हिंदी समालोचना के क्षेत्र में एक नये ढंग का सूत्रपात किया। किसी कवि के गुण और दोषों का कथन मात्र समालोचना मानना आजकल के विद्वान् ठीक नहीं समझते। कवि ने मानवीय एवं प्रकृति के अंतःकरण में कहाँ तक प्रवेश किया—इसका विश्लेषण करना समालोचक का काम है। शुक्लजी ने तुलसी, सूर और जायसी पर इस प्रकार की अत्यंत पांडित्यपूर्ण आलोचनाएँ लिखी हैं। शुक्ल जी का 'काव्य में रहस्यवाद' उनकी साहित्य शास्त्र की विद्वता तथा गंभीर गवेषणा का उदाहरण है। स्वर्गीय लाला भगवानदीन का 'विहारी और देव' इन दोनों कवियों को एक दूसरे से बड़ा सिद्ध करने की अंतिम चेष्टा थी। उसमें उच्चकोटि की आलोचना के दर्शन नहीं होते, किंतु आगे चलकर लाला जी ने अपने संपादित 'सूरपंचरत्न', 'केशवपंचरत्न', 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' आदि की भूमिका में अच्छी समालोचनाशक्ति प्रदर्शित की है। यदि हम कहें कि पंडित रामचंद्र शुक्ल हिंदी के

आधुनिक समालोचकों में सबसे श्रेष्ठ हैं तो अत्युक्ति न होगी। बा० श्यामसुंदरदास ने कबीर ग्रंथावली की भूमिका में शुक्ल जी के ढंग की मार्मिक आलोचना की है। कवियों की मानव अंतःकरण से संबंध रखने वाली सूक्तियों का सुंदर विवेचन करने वालों में बाबू राजबहादुर लमगोडा का स्मरण करना चाहिए। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास की 'सुकुमार सूक्तियों' का बहुत सरस विवेचन किया है। पंडित रामकृष्ण शुक्ल, 'शिलीमुख' की 'प्रसाद की नाट्यकला' में उच्चकोटि की समालोचना है। इसमें अँगरेजी और संस्कृत आलोचना पद्धतियों का सामंजस्य है। श्रीरामकुमार वर्मा का 'कबीर का रहस्यवाद' भी अपने ढंग का अच्छा ग्रंथ है।

समालोचना-शास्त्र संबंधी ग्रंथ भी हिंदी में लिखे जाने लगे हैं। अध्यापक श्यामसुंदर दास बी० ए० का 'साहित्यालोचन' इस विषय का अच्छा ग्रंथ है।

साहित्य शास्त्र विषयक ग्रंथों में 'पोद्दार' का काव्य कल्पद्रुम 'भानु' के काव्य प्रभाकर और छंद प्रभाकर तथा विनायक राव का काव्य कुसुमाकर अच्छे हैं। और साहित्यदर्पण तथा रसगंगाधर के अनुवाद उल्लेख्य हैं। अलंकार शास्त्र पर 'रसाल' का अलंकार पीयूष पश्चिमी आलोचना के ढंग का है।

अन्य विषय

ऊपर कह आए हैं कि आजकल साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों की पूर्ति में हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने वाले लोग दत्तचित्त हैं। ऐतिहासिक ग्रंथों में

मिश्रबन्धुओं का 'भारतवर्ष का, इतिहास' भाई परमानद एम० ए० का 'यूरोप का इतिहास', श्रीसत्यव्रत सिद्धातालकार का 'मौर्य कालीन भारत', पडित हरिमगल मिश्र, एम० ए० का 'प्राचीन भारत', महामहोपाध्याय प० गौरीशकर हीराचद ओझा का 'राजपूत जाति का इतिहास', प० विश्वेश्वरनाथ रेऊ का 'भारत के प्राचीन राजवश' आदि भाषा तथा साहित्यिक दृष्टि से अच्छे हैं। प० नदकुमारदेव शर्मा ने भी 'शिवाजी', 'नदकुमार की फाँसी' आदि कई अच्छे ग्रथ लिखे थे। स्कूलो में पढाई जाने वाली इतिहास-पुस्तकों में डाक्टर ईश्वरीप्रसाद के भारतवर्षीय इतिहास अच्छे हैं। अर्थशास्त्र सबधी साहित्य प्रस्तुत करने में डाक्टर प्राणनाथ डी० एस-सी, विद्यालकार, प्रो० दयाशकर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०, श्री० भगवानदास केला, श्री० कस्तूरमल जेठिया, प० गौरीशकर शुक्ल आदि ने स्तुत्य कार्य किए हैं, और कर रहे हैं। पुरातत्व सबधी ग्रथ उक्त ओझाजी, प० जनार्दन भट्ट एम० ए०, आदि ने लिखे हैं। वैज्ञानिक लेख एव ग्रथ प्रणयन में श्री शालग्राम भार्गव, श्री गोपाल स्वरूप भार्गव, बा० रामदास गौड, श्रीसत्य-प्रकाश आदि बहुत से विद्वानों के कार्य प्रशसनीय हैं। वैज्ञानिक विषयों पर आजकल प्राय. सब मासिक पत्रों में कुछ न कुछ निकला ही करता है। बा० व्रजेश बहादुर का प्राणी-शास्त्र-सबधी 'जतु जगत' नामक एक सु दर ग्रथ हिंदुस्तानी ऐकेडेमी प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। इसकी भाषा सरल तथा रोचक है। 'भाषा विज्ञान' का आरभ बा० श्यामसुदरदास, श्री नलिनीमोहन सान्याल

श्रौर डाक्टर मगलदेव के ग्रथ कर रहे हैं। स्वर्गीय प० चद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिदी' शीर्षक वृहद लेख से अपने भापातत्वविद् होने का पूर्ण आभास दिया था। उनके अकाल देहावसान ने अभी तक इस विपय में मौलिक अन्वेपण कार्य आगे नहीं वढने दिया। हमारी भापा एव साहित्य के इतिहास पर भी अव अच्छी रचनाएँ हो रही हैं। 'मिश्रवधु विनोद' को इस विपय का पथप्रदर्शक कहना चाहिए। वैज्ञानिक ढग से लिखित प० रामचद्र शुक्ल का 'हिदी साहित्य का इतिहास' इस विपय के ग्रथों में सर्वोत्तम है। वा० श्यामसु दर दास के 'हिदी भापा श्रौर साहित्य' में हिदी साहित्य की विचार धाराश्रो का अच्छा निदर्शन है। प० रामशकर शुक्ल 'रसाल' का 'हिदी साहित्य' का इतिहास तथा प० सूर्यकात का 'हिदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' भी कई दृष्टियो से मौलिकता-पूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त कुछ छोटी-छोटी पुस्तकें भी इस विपय की हैं। राजनीति एव समाजनीति पर भी इन दिनों प्राय वहुत लेख निकला करते हैं। श्री सुखसपतिराय भडारी, श्रीभगवानदास केला आदि ने कई अच्छी पुस्तकें इन विपयों पर लिखी हैं। यात्रा तथा भ्रमण सवधी लेख तो आजकल वहुत निकलते हैं। दो चार लेखकों ने अपने यात्रानुभव पुस्तक-रूप में भी प्रस्तुत किए हैं। वावू शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथिवी प्रदक्षिणा' श्रौर श्रीगोपालजी नेवटिया का 'काश्मीर' वहुत अच्छे श्रौर सचित्र ग्रथ हैं। स्वामी सत्यदेव की कई पुस्तकें

इस दिशा में पथप्रदर्शक थी। जीवनचरित्र संबंधी साहित्य की तो हिंदी में बाढ-सी आई है। फिर भी कुछ थोडी-सी पुस्तकों को ही प्रौढ रचना कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त शरीर-विज्ञान, चरित्र निर्माण, धर्म निरूपण आदि अन्य विषयों पर अच्छी-अच्छी रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं। साराश, आजकल हमारे जीवन में आवश्यक सभी प्रकार के विषयों पर हिंदी में ग्रथ रचना हो रही है और हर साल बहुतसी अच्छी पुस्तकों का समावेश हमारी भाषा में होता जाता है, और हिंदी की सर्वांगीण उन्नति की ओर लोग प्रयत्नशील हैं। पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा भी गद्य का सर्वतोमुखी विकाश हो रहा है।

उपसहार

उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी-गद्य का भविष्य उज्जल है। केवल हिंदी भाषा-भाषी लोग ही नहीं, इसमें लेख एव ग्रथ लिख रहे हैं, प्रत्युत विभिन्न भाषा भाषी भी इसकी राष्ट्रीय महत्ता स्वीकार कर इसके द्वारा भावाभिव्यक्ति कर रहे हैं। यद्यपि अभी तक हिंदी गद्य में स्थायी साहित्य के रूप में गिने जाने वाले ग्रथ इने गिने ही हैं, परन्तु निकट भविष्य में प्रौढ रचनाओं के होने के चिन्ह दिखाई पड रहे हैं। हमारा विश्वास है कि अनतिदूर भविष्य में हिंदी का गद्य साहित्य उसके प्राचीन पद्य-साहित्य से भी श्रेष्ठतर हो जायगा और ससार की अन्य समुन्नत भाषाओं का समकक्ष होगा।

श्रीचंद्रावली

[श्रीभारतेंदु हरिश्चंद्र]

(तीसरा पहर, गहरे बादल छाए हुए हैं)

[झूला पड़ा है, कुछ सखी झूलती, कुछ इधर उधर फिरती हैं]

(चन्द्रावली, मालती, विलासिनी, इत्यादि एक स्थान पर बैठी हैं, कामिनी और माधुरी हाथ में हाथ दिए घूमती हैं।)

कामिनी—सखी, देख बरसात भी अब की किस धूमधाम से आई है मानो कामदेव ने अबलाओं को निर्बल जानकर इनके जीतने को अपनी सेना भिजवाई है। धूम से चारों ओर से घूम-घूमकर बादल बगपगति का निशान उड़ाए लपलपाती नंगी तलवार सी बिजली चमकाते गरज-गरजकर डराते बान के समान पानी बरसा रहे हैं और इन दुष्टों का जी बढाने को मोर करखा सा कुछ अलग पुकार-पुकार गा रहे हैं। कुल की मर्यादा ही पर इन निगोड़ों की चढ़ाई है। मनोरथों से कलेजा उमगा आता है और काम की उमगें जो अंग-अंग में भरी हैं उनके निकाले बिना जी तिलमिलाता है। ऐसे बादलों को

देखकर कौन लाज की चद्दर रख सकती है और कैसे पतिव्रत पाल सकती है ।

माधुरी—विशेषकर वह जो आप कामिनी हो। (हँसती है)

कामिनी—चल तुझे हँसने ही की पडी है। देख भूमि चारों-ओर हरी हरी हो रही है। नदी नाले बावली तालाब सब भर गए। पच्ची लोग पर समेटे पत्तों की आड में चुपचाप सकपके से होकर बैठे हैं। वीरबहूटी और जुगनूँ पारी-पारी रात और दिन को इधर-उधर बहुत दिखाई पडते हैं। नदियों के करारे धमाधम टूटकर गिरते हैं। सर्प निकल-निकल अशरण से इधर-उधर भागे फिरते हैं। मार्ग बद हो रहे हैं। परदेशी जो जिस नगर में हैं वहीं पडे पडे पछता रहे हैं, आगे बढ नहीं सकते। वियोगियों को तो मानो छोटा प्रलयकाल ही आया है।

माधुरी—छोटा क्यों बडा प्रलयकाल आया है। पानी चारो ओर से उमड ही रहा है । लाज के बडे-बडे जहाज गारद हो चुके। भला फिर वियोगियों के हिसाब से ससार डूबा ही है, तो प्रलय ही ठहरा।

कामिनी—पर तुझको तो वट कृष्ण का अवलब है न, फिर तुझे क्या, भाडीर वट के पास उस दिन खडी बात कर ही रही थी, गए हम—

माधुरी—और चद्रावली ?

कामिनी—हाँ चंद्रावली विचारी तो आप ही गई बीती है,

उसमें भी अब तो पहरे में है, नजरबंद रहती है, झलक भी नहीं देखने पाती, अब क्या—

माधुरी—जाने दे नित्य का झखना। देख फिर पुरवैया झकोरने लगी और वृक्षों से लपटी लताएं फिर से लरजने लगीं। साड़ियों के आँचल और दामन फिर उड़ने लगे और मोर लोगों ने एक साथ फिर शोर किया। देख यह घटा अभी गरज गई थी, पर फिर गरजने लगी।

कामिनी—सखी बसंत का ठंढा पवन और सरद की चाँदनी से राम राम करके वियोगियों के प्राण बच भी सकते हैं, पर इन काली काली घटा और पुरवैया के झोकों तथा पानी के एकतार झमाके से तो कोई भी न बचेगा।

माधुरी—तिस में तू तो कामिनी ठहरी, तू बचना क्या जाने ?

कामिनी—चल ठठोलिन। तेरी आँखों में अभी तक उस दिन की खुमारी भरी है, इसीसे किसी को कुछ नहीं समझती। तेरे सिर बीते तो मालूम पड़े।

माधुरी—बीती है मेरे सिर। मैं ऐसी कची नहीं कि थोड़े में बहुत उबल पड़ूं।

कामिनी—चल तू हुई है क्या कि न उबल पड़ेगी। स्त्री की निसात ही कितनी। बड़े बड़े योगियों के ध्यान इस बरसात में छूट जाते हैं, कोई योगी होने ही पर मन ही मन पछताते हैं, कोई जटा पटककर हाय हाय चिल्लाते हैं और बहुतेरे तो

तूमडी तोड-तोडकर योगी से भोगी हो जाते हैं।

माधुरी—तो तू भी किसी सिद्ध से कान फुकवाकर तुमडी तोडवा ले।

कामिनी—चल! तू क्या जाने इस पीर को? सखी यही भूमि और यही कदम कुछ दूसरे ही हो रहे हैं और यह दुष्ट बादल मन ही दूसरा किए देते हैं। तुझे प्रेम हो तब सूझे। इन आनंद की धुन मे ससार ही दूसरा एक विचित्र शोभावाला और सहज काम जगानेवाला मालूम पडता है।

माधुरी—कामिनी पर काम का दावा है इसी से हेरफेर उसीको बहुत छेडा करता है।

चद्रावली—सखियो, देखो कैसी अधेर और गजब है कि या रुत मैं सब अपनो मनोरथ पूरो करै और मेरी यह दुरगति होय! भलो काहुवै तो दया आवती। (आँखों में आँसू भर लेती है)

माधुरी—सखी तू क्यों उदास होय है। हम सब कहा करैं, हम तो आज्ञाकारिणी दासी ठहरीं, हमारो का अख़्त्यार है तऊ हमगें सों तो कोऊ कछू तोहि नायँ कहै।

कामिनी—भलो सखी, हम याही कहा कहैंगी! याहू तो हमारी छोटी स्वामिनी ठहरी।

विलासिनी—हाँ सखी, हमारी तो दोऊ स्वामिनी हैं। सखी, बात यह है कि सराबी तो हम लोगन की है। ये दोऊ फेर एक को एक होयँगी। लाठी मारवे सों पानी थोरी हू जुदा हो जायगो,

पर अभी जो सुन पावै कि ढिमकी सखी ने चन्द्रावलियै अकेलि छोड़ि दीनी तो फेर देखो तमासा।

माधवी—हम्बै बीर। और कामहू तौ हमीं सब बिगारैं। अब देखि कौननै स्वामिनी सो चुगली खाई, हमारेई तुमारे में सो वहू है। सखी चन्द्रावलियै जो दु:ख देयगी वह आप दु:ख पावैगी।

चन्द्रावली—(आप ही आप) हाय! प्यारे, हमारी यह दशा होती है और तुम तनिक नहीं ध्यान देते। प्यारे, फिर यह शरीर कहाँ और हम तुम कहाँ? प्यारे, यह संयोग हमको तो अब की ही बना है, फिर यह बातें दुर्लभ हो जायँगी। हाय नाथ, मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमगें कैसे निकालूँ? प्यारे, रात छोटी है और स्वांग बहुत हैं। जीना थोड़ा और उत्साह बड़ा। हाय! मुझसी मोह में डूबी को कहीं ठिकाना नहीं। रात दिन रोते ही बीतते हैं। कोई बात पूछने-वाला नहीं, क्योंकि संसार में जी कोई नहीं देखता, सब ऊपर ही की बात देखते हैं। हाय! मैं तो अपने पराए सबसे बुरी बनकर बेकाम हो गई। सबको छोड़कर तुम्हारा आसरा पकड़ा था सो तुमने यह गति की। हाय! मैं किसकी होके रहूँ? मैं किसका मुँह देखकर जीऊँ? प्यारे, मेरे पीछे कोई ऐसा चाहने-वाला न मिलेगा। प्यारे, फिर दिया लेकर मुझको खोजोगे। हा! तुमने विश्वासघात किया। प्यारे, तुम्हारे निर्दयीपन की

भी कहानी चलेगी। हमारा तो कपोत-व्रत है। हाय ! स्नेह लगाकर दगा देने पर भी सुजान कहाते हो। बकरा जान से गया, पर खाने वाले को स्वाद न मिला। हाय ! यह न समझा था कि यह परिणाम करोगे। वाह ! खूब निर्वाह किया ! बधिक भी बधकर सुधि लेता है, पर तुमने न सुधि ली। हाय ! एक बार तो आकर अक मे लग जाओ। प्यारे, जीते जी आदमी का गुन नहीं मालुम होता। हाय ! फिर तुम्हारे मिलने को कौन तरसेगा और कौन रोवेगा ? हाय ! ससार छोडा भी नहीं जाता। सब दु ख सहती हूँ, पर इसी मे फँसी पडी हूँ। हाय ! नाथ, चारों ओर से जकडकर ऐसी बेकाम क्यों कर डाली है। प्यारे योंही रोते दिन बीतेंगे ? नाथ, यह हवस मन की मन ही में रह जायगी। प्यारे, प्रगट होकर ससार का मुँह क्यो नहीं बन्द करते और क्यों शका-द्वार खुला रखते हो ! प्यारे, सब दीनदयालुता कहाँ गई ! प्यारे, जल्दी इस ससार से छुडाओ, अब नहीं सही जाती। प्यारे, जैसी हैं तुम्हारी हैं। प्यारे, अपने कनौडे को जगत की कनौडी मत बनाओ। नाथ, जहाँ इतने गुन सीखे वहाँ प्रीति निवाहना क्यों न सीखा ? हाय ! मजधार में डुबाकर ऊपर से उतराई माँगते हो ! प्यारे सो भी दे चुकी अबतो पार लगाओ। प्यारे, सब की हद होती है। हाय ! हम तडपें और तुम तमाशा देखो। जन-कुटुम्ब से छुडाकर यों तितर-बितर करके बेकाम कर देना यह कौन बात है ? हाय ! सब की आँखों में हलकी हो

गई। जहाँ जाओ वहाँ दुर दुर। उस पर यह गति ! हाय ! "भामिनी ते भौंडी करी, मानिनी ते मौड़ी करी, कौडी करी हीरा तें, कनौड़ी करी कुल तें।" तुम पर बडा क्रोध आता है और कुछ कहने को जी चाहता है। बस अब मैं गाली दूँगी। और क्या कहूँ, बस आप आप ही हैं। देखो गाली में भी तुम्हें मैं मर्म-वाक्य कहूँगी—झूठ, निर्दय, निर्घृण, "निर्दय हृदय कपाट", बखेडिये और निर्लज्ज, ये सब तुम्हे सची गालियाँ हैं, भला जो कुछ करना ही नहीं था तो इतना झूठ क्यो बके ! किसने बकाया था ! कूद कूदकर प्रतिज्ञा करते बिना क्या डूबी जाती थी ? झूठे ! झूठे !! झूठे !!! झूठे ही नहीं वरच विश्वासघातक ! क्यों इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा-उठाकर लोगों को विश्वास दिया ? आपही सच मरते, चाहे जहन्नुम में पडते। और उसपर तुर्रा यह है कि किसी को चाहे कितना भी दुखी देखें आपको कुछ घृणा तो आती ही नहीं। हाय हाय ! कैसे कैसे दुखी लोग हैं और मजा तो यह है कि सब धान बाइस पसेरी। चाहे आपके वास्ते दुखी हो, चाहे अपने ससार के दुख से, आपको दोनों उल्लू फँसे हैं। इसी से तो 'निर्दय हृदय कपाट' यह नाम पडा है। भला क्या काम था कि इतना पचडा किया ? किसने इस उपद्रव और जाल करने को कहा था ? कुछ न होता, तुम्हीं हम रहते बस चैन था, केवल आनद था, फिर क्यों यह विषमय ससार किया ? बखेडिए ! और इतने बडे कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की।

नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें, आप भी अपने मुँह झूठे बने, पर वाह रे शुद्ध बेहयाई और पूरी निर्लज्जता! बेशरमी हो तो इतनी तो हो! क्या कहना है! लाज को जूतों मारके पीट-पाट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले मे आप रहते हैं उस मुहल्ले मे लाज की हवा भी नहीं जाती। जब ऐसे हो तब ऐसे हो। हाय! एक बार भी मुँह दिखा दिया होता तो मत वाले मतवाले बने क्यों लड लडकर सिर फोड़ते! अच्छे खासे अनूठे निर्लज्ज हो। काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे? हुक़मी बेहया हो। कितनी गाली दूँ, बडे भारी पूरे हो, शरमाओगे थोडे ही कि माथा खाली करना सुफल हो। जाने दो—हमभी तो वैसी ही निर्लज्ज और झूठी हैं। क्यों न हो। 'जस दूलह तस बनी बराता'। पर इसमें भी मूल उपद्रव तुम्हारा ही है। पर यह जान रखना कि इतना और कोई न कहेगा, क्यो शिफारशी नेति-नेति कहेंगे, सची थोडे ही कहेंगे। पर यह तो कहो कि यह दु समय पचडा ऐसा ही फैला रहेगा कि कुछ तै भी होगा वा न तै होगा? हमको क्या? पर हमारा तो पचडा छुडाओ। हाय मैं किससे कहती हूँ? कोई सुनने वाला है। जगल मे मोर नाचा किसने देखा? नहीं नहीं, वह सब देखता है, वह देखता होता तो अबतक मेरी खबर न लेता। पत्थर होता तो वह भी पसीजता। नहीं नहीं, मैने प्यारे को इतना दोष व्यर्थ लगाया। प्यारे, तुम्हारा दोष कुछ भी नहीं। यह सब मेरे

कर्म का दोष है। नाथ, मैं तो तुम्हारी नित्य की अपराधिनी हूँ। प्यारे क्षमा करो। मेरे अपराधों की ओर न देखो, अपनी ओर देखो। (रोती है)

माधवी—हाय हाय सखियो ! यह तो रोय रही है।

कामिनी—सखी, प्यारी, रोवै मती। सखी, तोहि मेरे सिर की सौंह जो रोवै।

माधवी—हाय हाय ! यह तो मानै ही नहीं। (आँसू पोंछकर) मेरी प्यारी मैं हाथ जोड़ूँ हा हा खाऊँ मानि जा।

कामिनी—सखी यासों मति कछू कहौ। आओ हम सब मिलिकै विचार करैं जासों याको काम होय।

चन्द्रावली—(रोकर) सखी, एक उपाय मुझे सूझा है जो तुम मानो।

माधवी—सखी, क्यों न मानैंगी तू कहै क्यो नहीं ?

चन्द्रावली—सखी, मुझे यहाँ अकेली छोड़ जाओ।

माधवी—तो तू अकेली यहाँ क्या करेगी ?

चन्द्रावली—जो मेरी इच्छा होगी।

माधवी—भलो तेरी इच्छा का होयगी हमहूँ सुनैं ?

चन्द्रावली—सखी, वह उपाय कहा नहीं जाता।

माधवी—तौ का अपनो प्राण देगी। सखी, हम ऐसी भोरी नहीं हैं कै तोहि अकेली छोड़ जायँगी।

चन्द्रावली—(रोकर) हाय ! मरने भी नहीं पाती। यह अन्याय !

माधवी—सखी, अन्याय नहीं, यही न्याय है।

विलासिनी—हाँ माधवी, तू ही चतुर है तू ही उपाय सोच।

माधवी—सखी, मेरे जी मे तो एक बात आवै है। हम तीनि हैं सो तीनि काम बाँटि लें। प्यारी जू के मनाइबे को मेरो जिम्मा। यही काम सब में कठिन है और तुम दोउन मैं सों एक याके घरकेन सों याकी सफाई करावै और एक लालजू सों मिलिबे को कहै।

कामिनी—लालजी सों मैं कहूँगी। मैं तिन्नै बहुती लजाऊँगी। और जैसे होयगो वैसे यासों मिलाऊँगी।

माधवी—सखी, वेऊ का करैं। प्रियाजी के डरसों कछू नहीं कर सकैं।

विलासिनी—मो प्रियाजू को जिम्मा तेरो हई है।

चंद्रावली—सखियो! व्यर्थ क्यों यत्न करती हो। मेरे भाग्य ऐसे नहीं हैं कि कोई काम सिद्ध हो।

माधवी—सखी, हमारे भाग्य तो सीधे हैं। हम अपने भाग्य-बल सों सब काम करैंगी।

कामिनी—सखी, तू व्यर्थ क्यों उदास भई जाय है, जबतक सासा तबतक आसा। (चंद्रावली का हाथ पकड़ कर) लै सखी, अब उठि। चलि हिंडोरे झूलि।

माधवी—हाँ सखी अब तो अनमनोपन छोडि।

चद्रावली—सखी, छूटा ही सा है, पर मैं हिंडोरे न भूलूँगी मेरे तो नेत्र आपही हिडोरे भूला करते हैं।

माधवी—तौ सखी, तेरी जो प्रसन्नता होय ! हम तो तेरे सुख की गाँहक हैं।

चद्रावली—हा, इन बादलों को देखकर तो और भी जी दुखी होता है—

देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि,
जिय में बिरह घटा घहरि घहरि उठै
त्योंही इद्रधनु बगमाल देखि बनमाल,
मोती लर पीकी जिय लहरि लहरि उठै
'हरीचद' मोर पिक धुनि सुनि बसी नाद,
बाकी छबि बार-बार छहरि छहरि उठै
देखि देखि दामिनी की दुगुन दमकपीत—
पट छोर मेरे हिय फहरि फहरि उठै

हाय ! जो बरसात ससार को सुखद है वह मुझे इतनी दुखदायी हो रही है !

माधवी—तौ न दुखदायिनी होयगी । चल उठि घर चलि।

कामिनी—हाँ चलि।

[सब जाती ह

(यवनिका गिरती है)

आधुनिक गद्य का प्रारंभिक काल

[श्रीबदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन']



नागरी के प्रथम गद्य लेखक लल्लू लालजी हैं, क्योंकि उनसे पहले के किसी लेखक का नाम नहीं सुना जाता। अवश्य ही लोग आगे भी गद्य लिखते ही रहे होंगे, परन्तु छापेखाने के अभाव से सामान्य गद्य ग्रंथ कैसे प्रचार में आते? तब क्यों कोई 'प्रेमसागर' सा बड़ा ग्रंथ हाथों से लिखता और उसका इतना प्रचार होता? जो हो उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के आदि में 'प्रेमसागर' बनाया, जिसकी रचना की प्रशंसा करनी ही होगी, क्योंकि वह प्राय केवल कान से सुनी बोली के लिखनेवाले थे। उन्होंने विदेशी शब्दों से अपनी भाषा को बहुत बचाया। मानो यही हमारी भाषा का अंतिम संस्कार है कि जो उर्दू से उसे भिन्न रूप देता है। तो भी यह मानना पड़ेगा कि उनकी भाषा एक रीति से बालभाषा है। इसी कारण यह सीधी सादी और कुछ खुर्खुरी है, जिसे टकसाली भाषा नहीं कह सकते। इसी भाँति उनके पीछे के पादरी लोगों वा अन्य की भाषाएँ भी उसी कोटि की हैं। अतएव उसके दूसरे सुलेखक राजा शिवप्रसाद जी को ही उसका परमाचार्य्य

अथवा आदि सुलेखक वा ग्रंथकार कहना चाहिए क्योंकि जैसी अनोखी और पुष्ट भाषा उन्होंने लिखी, आजतक फिर कोई न लिख पाया। जिस काट छाँट का फँडा वे बना गये, वह उनकी बहुत बडी योग्यता का साक्षी है। ठेठ हिंदी शब्दों की सजावट, सुगम सस्कृत और पारसी आदि शब्दों की मिलावट से जैसी सुथरी, सुदर और चुस्त इबारत की धारा उनकी लिखावट मे आई फिर किसी की लेखनी से न निकल सकी।

क्या नागरी अर्थात् अधिकाश विदेशी शब्दों से शून्य उच्च और क्या सामान्य बोलचाल की सरल भाषा तथा नीम उर्दू उनकी सभी शैलियाँ समान रीति मे सुहावनी और मन लुभावनी होती थीं, जिसका प्रमाण उनकी पुस्तकें हैं। विशेषकर 'भूगोल हस्तामलक' अथवा 'गुटका' में उनकी लिखी पुस्तक और इतिहास 'तिमिरनाशक' विशेषत उसका तीसरा भाग।

एक दिन मैं अपने अभिन्न हृदय माननीय मित्र भारतेंदु से सयोगात् कह उठा कि मैंने सबकी लिखी हिंदी पढी, परतु जो स्वाद मुझे राजा साहब की लिखावट में मिलता है, दूसरों की मे कदापि नहीं। वह मुसकराकर बोले कि "क्या कहें, वैसी लच्छेदार इबारत कोई लिखी नहीं सकता, पसद कैसे आवे? सचमुच उनके क़लम में जादू का असर है।" अवश्य ही वह सरल उर्दू शब्दों के मेल को बुरा नहीं समझते थे और

अप्रचलित संस्कृत शब्दों के भरने के विरोधी थे । वह केवल ठेठ बोलचाल की हिंदी के पक्षपाती थे । एक दिन भारतेंदु के साथ मैं उनके घर पर गया, तो और बातो के साथ हिंदी की लिखावट की बात चली, तो कहा कि, "आप लोग क्या पाणिनि का जमाना लाना चाहते हैं ? इबारत वही अच्छी कही जायगी कि जो आम फहम और खास-पसंद हो ।" बाबू साहब ने कहा कि "हुजूर क्या किया जाय, अरबी, फारसी के अल्फाज के मेल से तो उर्दू हिंदी में कुछ भेद ही नहीं रह जाता ।" कहा कि, "भेद तो दरअस्ल हई नहीं है, लोग दोनों तरफ से खींच तान करके भेद बढा रहे हैं ।"

पिछले दिनों राजा साहब अपनी भाषा में उर्दूपन अधिक ला चले थे, जिसके कारण शायद उनके अफसर डाइरेक्टर शिक्षा-विभाग हुए हों, अथवा सरकारी कचहरियों में उर्दू के स्थान पर हिंदी के प्रचार के अर्थ बहुत उद्योग करके भी हताश हो, कदाचित उन्होंने यह सिद्धांत कर लिया था कि, अब हिंदी को ही उर्दू बना चलो । क्योंकि राजभाषा से प्रजा को परिचित करना अति ही आवश्यक है । जो हो, उन्होंने पाठ्य पुस्तकों में अपनी भाषा की शैली बदल दी । तृतीय भाग इतिहास 'तिमिरनाशक' के अंत की भाषा खरी, वरंच उच्च कोटि की उर्दू कही जा सकती है, जिसे कम लियाकत के मुदर्रिस तो प्राय समझ भी नहीं सकते, पढाते क्या ? वैसा

ही उन्होंने अपनी भाषा के लिये एक व्याकरण भी बनाया, जिसमें फारसी और अरबी के नियम और गर्दान लिखकर अवश्य ही हमारी भाषा में एक अच्छी वस्तु छोड़ गये। पर यह उस काम के लिये उपयुक्त नहीं, जिसके लिये उनका श्रम था। यह तो अनहोनी बात थी कि दूसरे वर्णों द्वारा दूसरी-दूसरी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान हो सके। 'कविवचन सुधा' में बहुत दिनों तक उसकी समालोचना हुई थी। फजीयत राय के नाम से बाबू हरिश्चंद्र लिखते थे। उस एक लेखमाला का एक शीर्षक ही था कि—"भला यह व्याकरण पढ़ावेगा कौन ?"

हमारी गवर्नमेंट यह चाहती है कि एक ही भाषा दो भिन्न भिन्न अक्षरों में लिखी जाय। परंतु यह कब संभव है ? परिणाम यह होता है कि हिंदी उर्दू बनती जाती है। क्योंकि फारसी अक्षरों में हिंदी के शब्द पढ़े ही नहीं जाते, इसी से हिंदी का गला घोंटा जाता है। निदान जब तक सरकार अपनी इस भूल को न सुधारेगी, प्रजा की दशा न सुधरेगी और न हमारी भाषा का उद्धार होगा।

बाबू हरिश्चंद्र आरंभ में उन्हीं के अनुकरणकर्ता हुए। वे राजा साहिब को अपना गुरु मानते थे। कुछ दिनों दोनों की भाषाएँ एक सी थीं। परंतु पीछे से दोनों की शैलियाँ भिन्न-भिन्न हो गईं। वे विदेशी शब्दों पर झुके और ये स्वदेशी शब्दों पर। वे कदाचित गवर्नमेंट की इच्छा से लाचार थे

क्योंकि तब से आजतक पाठ्य पुस्तकों की भापा उर्दू मिली ही देखी गई । बहुतेरों ने इधर नई नई पुस्तकें लिखीं, परतु भापा उनकी निरी उर्दू ही है । योंही लेख भी सर्वथा सूखे और निर्जीव से, जिनमें राजा साहिब की उर्दू मिली भापा की शताश भी रोचकता और पुष्टता नहीं । कुछ अन्य लोग भी इसी भ्रम में पडकर अपनी भापा में उर्दूपन ला चले । कदाचित् उन्होने समझा कि फारसी अरबी शब्द भर देने से ही इबारत दिलचस्प हो जायगी । परतु सिर्फ इसी एक बात से उस नवात की मिठास कब आ सकती थी ।

अस्तु, राजा साहब केवल पाठ्य पुस्तको को ही लिख गये और वे केवल अच्छी गद्य ही लिख सकते थे । परतु बाबू हरिश्चद्र ने साहित्य का कोई भाग ही अछूता नहीं छोडा और सब में अपनी समान योग्यता दिखलाकर सभी रुचि के लोगों के मन में स्थान किया । न स्वय उन्होंने ही लिखा, परतु औरों से भी लिखवाया एव लोगों में लिखने पढने की रुचि फैलाई । लिखने में स्वय इतने अभ्यस्त और सिद्ध-हस्त थे कि यदि यह कहें कि यावज्जीवन उनकी लेखनी चलती ही रही तो भी अत्युक्त न होगा । वास्तव मे वे पढने लिखने ही में व्यस्त रहते थे और विचित्रता तो यह कि सैकडों मनुष्यों में बैठे भाति-भाति का गप्पाष्टक होता तो भी उनकी लेखनी चलती ही जाती थी । इसीसे वे इतनी थोडी सी अवस्था में इतने ग्रथ लिख सके ।

वे चार सामयिक पत्रों का संपादन भी करते थे अर्थात् कविवचन सुधा, हरिश्चंद्र मैग्जीन वा हरिश्चंद्र चंद्रिका, बाला-बोधिनी (जो बरस ही छ महीने चली) और भगवत्भक्ति-तोषिणी (यह दो ही चार संख्या छप सकी) सब में प्रधान कविवचनसुधा थी, जो प्रथम मासिक, फिर साप्ताहिक हुई और जो उनकी ख्याति की प्रधान सामग्री थी। उससे आगे नागरी में दो एक पत्र और भी छपते थे, परंतु वह गिनती के योग्य नहीं थे, अत प्रथम पत्र यही कहा जा सकता है। पहिले उसमें केवल कवित्तों का संग्रह फिर काल के सब प्रकार के ग्रंथ, फिर समाचार आदि छपने लगे। उस समय जितने अच्छे लेखक थे सभी उसमें लिखते थे, जिनमें से कई पीछे से पत्र संपादक हो गये और अपने-अपने नये पत्र निकाल चले।

बाबू हरिश्चंद्र न केवल अनेक प्रकार के गद्य ही लिख सकते थे, किंतु कविता भी सभी चाल की करते थे। उनके पिता उनसे भी अच्छे कवि थे, किंतु केवल पुरानी चाल की व्रजभाषा के ही। बाबू हरिश्चंद्र सभी कुछ लिख सकते थे, परंतु समाचार पत्र-संपादक वैसा कोई फिर आज तक न हो सका। हँसी दिल्लगी के मजमून तो वह ऐसे लिखते थे कि क्या कहना!

राजा साहब यदि कनसर्वेटिव थे, तो बाबू साहब लिबरल। वे यदि सदैव राजा के पक्षपाती थे तो ये प्रजा के। यदि वे अपनी उन्नति को प्रधान समझते, तो ये देश और जाति की

उन्नति की। इसी से उनसे और इनसे वैमनस्य भी बढा। क्रमश' उन्होंने इनकी वृद्धि में बडी हानि की और इन्होंने उनको देश की आँखों से गिरा दिया। अंत तक इन दोनों का बैर बढता ही गया और मेल न हुआ।

जो हो, दोनों काशीवासी गुरु और चेले हमारे समान सम्मान के भाजन हैं, क्योंकि हमारी वर्तमान भापा के यही दो प्रधान सस्कारक वा परिपोपक हैं। इस देश रूपी खेत में जो हमारी भापा का बीज छिप रहा था, उसे लल्लूलाल रूपी वर्षा ऋतु ने अकुरित किया, तो शिवप्रसाद शरद ने उसे बेल-बूटे का आकार दिया और हरिश्चद्र वसंत ने उसमें फूल-फल दिखलाये अथवा यों कहें कि यदि लल्लूलाल उसके जन्मदाता तो राजा साहब उसके पालनकर्ता हैं, क्योंकि उन्होंने उस भापा को ऐसा रूप दिया कि जिससे वह उर्दू से टक्कर लेने मे समर्थ हुई, जिसे पढकर लोग लेख का आनद पाने लगे और यह समझ सके कि उर्दू को छोडकर हिंदी में भी लेख लालित्य दिखलाया जा सकता है। बाबू साहब मानो उसके शिक्षक थे कि जो उसे अनेक गुणों से युक्तकर लोगों को दिखला सके, अथवा राजा साहब की जगाई भूख को वह भाति भाति की भोजन-सामग्री देकर वाचक वृ द को तृप्त कर सके।

होली है

[श्रीप्रतापनारायण मिश्र]



तुम्हारा सिर है ! यहा दरिद्र की आग के मारे होला (अथवा होरा—भुना हुआ हरा चना) हो रहे हैं इन्हें होली है, हैं!

अरे कैसे मनहूम हो ? बरस बरस का त्यौहार है, उसमें भी वही रोनी सूरत ! एक बार तो प्रसन्न होकर बोलो होरी है !

अरे भाई हम पुराने समय के बगाली भी तो नहीं हैं कि तुम ऐसे मित्रो की जबरदस्ती से होरी (हरि) बोल के शात हो जाते। हम तो बीसवीं शताब्दी के अभागे हिंदुस्तानी हैं, जिन्हें कृषि, वाणिज्य, शिल्प सेवादि किसी में भी कुछ तत नहीं है। खेतों की उपज, अति वृष्टि, अनावृष्टि, जगलों का कट जाना, रेलों और नहरों की वृद्धि इत्यादि ने मट्टी करदी है। जो कुछ उपजता भी है वह कट के खलियान मे नहीं आने पाता, ऊपर ही ऊपर लद जाता है। रोजगार व्यवहार में कहीं कुछ देख नहीं पड़ता। जिन बाजारों में, अभी दस वर्ष भी नहीं हुए, कचन बरसता था वहा अब दूकान भाँय भाँय होती हैं। देशी कारीगरी को देश ही वाले नहीं पूछते। विशेषत जो छाती ठोक ठोक ताली बजवा बजवा कारार्जों के तख्ने रँग रँग कर देशहित के गीत गाते फिरते हैं

वह और भी देशी वस्तु का व्यवहार करना अपनी शान से बईद समझते हैं। नौकरी बी० ए०, एम० ए०, पास करने वालों को भी उचित रूप में मुश्किल से मिलती है। ऐसी दशा में हमें होली सूझनी है कि दिवाली!

यह ठीक है। पर यह भी तो सोचो कि हम तुम वशज किसके हैं! उन्हीं के न, जो किसी समय वसत पचमी ही से —

"आई माघ की पाँचें, बूढ़ी डोकरियाँ नाचें"

का उदाहरण बन जाते थे, पर जब इतनी सामर्थ्य न रही तब शिवरात्रि मे होलिकोत्सव का आरभ करने लगे। जब इसका भी निर्वाह कठिन हुआ तब फागुन सुदी अष्टमी से—

"होरी मध्ये आठ दिन, ब्याह माँहि दिन चार।
शठ पडित, वेश्या बधू, सबै भये इक्सार॥"

का नमूना दिखलाने लगे। पर उन्हीं आनदमय पुरुषों के वश में होकर तुम ऐसे मुहर्रमी बने जाते हो कि आज त्यौहार के दिन भी आनद बदन मे होली का शब्द तक उच्चारण नहीं करते। सच कहो, कहीं 'होली बाइबिल' की हवा लगने से हिंदूपन को सलीब पर तो नहीं चढा दिया?

तुम्हें आज क्या सूझी है जो अपने पराए सभी पर मुँह चला रहे हो? होली बाइबिल अन्य धर्म का ग्रथ है, उसके मानने वाले बिचारे पहिले ही से तुम्हारे साथ का भीतरी-बाहरी सबध छोड देते हैं। पहली उमग में कुछ दिन तुम्हारे मत पर

होली है]

कुछ चोट चला भी दिया करते थे, पर अब बरसों से वह चर्चा भी न होने के बराबर हो गई है। फिर उन छूटे हुए भाइयों पर क्यों बौछार करते हो ? ऐसी ही लडास लगी हो तो उससे जा भिडो जो अभी तुम्हारे ही कहलाते हैं, तुम्हारे ही साथ रोटी बेटी का व्यवहार रखते हैं, तुम्हारे भी दो चार मान्य ग्रथों के मानने वाले बनते हैं, पर तुम्हारे ही देवता पितर इत्यादि की निंदा कर करके तुम्हें चिढाने ही में अपना धर्म और अपने देश की उन्नति समझते हैं।

अरे राम राम ! पर्व के दिन कौन चरचा चलाते हो ! हम तो जानते थे तुम्हीं मनहूस हो, पर तुम्हारे पास बैठे सो भी नसूढिया हो जाय। अरे बाबा दुनिया भर का बोझा परमेश्वर ने तुम्हीं को नहीं लदा दिया। यह कारखाने हे, भले बुरे लोग और दु ख सुख की दशा होती ही हुआती रहती है। पर मनुष्य को चाहिए कि जब जैसे पुरुष और समय का सामना आ पडे तब तैसा बन जाय। मन को किसी झगडे में फँसने न दे।

आज तुम सचमुच कहीं से भाग खाकर आये हो, इसी से बेसिर-पैर की हाँक रहे हो। अभी कल तक प्रेम सिद्धांत के अनुसार यह सिद्ध करते थे कि मन का किसी ओर लगा रहना ही कल्याण का कारण है, और इस समय कह रहे हो कि 'मन को किसी झगडे में फँसने न दो'। वाह ! भला तुम्हारी किस बात को मानें ?

हमारी बात मानने का मन करो तो कुछ हो ही न जाओ! यही तो तुममे नहीं होता। तुम तो जानते हो कि हम चोरी-चहारी सिखावेंगे।

नहीं यह तो नहीं जानते। और जानते भी हों तो बुरा न मानते। क्योंकि जिस काल में देश का अधिकाश निर्धन, निर्बल, निरुपाय हो रहा है, उसमे यदि कुछ लोग "बुभुक्षित. किं न करोति पाप" का उदाहरण बन जाँय तो कोई आश्चर्य नहीं है। पर हाँ यह तो कहेंगे कि तुम्हारी बातें कभी समझ में नहीं आतीं। इससे मानने को जी नहीं चाहता।

यह ठीक है, पर याद रक्खो कि हमारी बातें मानने का मानस करोगे तो समझ मे भी आने लगेंगी, और प्रत्यक्ष फल भी देंगी।

अच्छा साहब मानते हैं। पर यह तो बतलाइए जब हम मानने के योग्य ही नहीं हैं तो कैसे मान सकते हैं?

छि! क्या समझ है! अरे बाबा, हमारी बातें मानने में योग्य होना और हो सकना आवश्यक नहीं हैं। जो बातें हमारे मुँह से निकलती हैं वह वास्तव में हमारी नहीं हैं, और उनके मानने की योग्यता और शक्ति हमको तुमको क्या किसी को भी तीन लोक और तीन काल मे नहीं है। पर इसीमें भी सदेह न करना कि जो कोई चुपचाप आँखें मीच के मान लेता है वह परमानद-भागी हो जाता है।

होली है]

हि हि ! ऐसी बातें मानने तो कौन आता है, पर सुनकर परमानद तो नहीं, हाँ, मसखरेपन का कुछ मजा जरूर पा जाता है।

भला हमारी बातो से तुम्हारे मुँह से हि हि तो निकली ! इस तोबड़ा से लटकते हुए मुँह के टाँकों के समान दो तीन दाँत तो निकले। और नहीं तो, मसखरेपन ही का सही, मजा तो आया। देखो, आँखें मिट्टी के तेल की रोशनी और कुल्हिया के ऐनक की चमक से चौंधिया न गई हों तो देखो ! छत्तीसौ जात, वरच अजात के झूठे गिलास की मदिरा तथा भच्छ अभच्छ की गध से अक्लि भाग न गई हो तो समझो। हमारी बातें सुनने में इतना फल पाया है तो मानने में न जाने क्या प्राप्त होगा। इसी से कहते हैं, भैय्या मान जाव, राजा मान जावो, मुन्ना मान जावो। आज मन मार के बैठ रहने का दिन नहीं है। पुरखों के प्राचीन सुख सम्पत्ति को स्मरण करने का दिन है। इससे हँसो, बोलो, गाओ बजाओ, त्यौहार मनाओ और सब से कहते फिरो—होली है।

हो तो ली ही है। नहीं तो अब रही क्या गया है।

खैर जो कुछ रह गया है उसी के रखने का यत्न करो, पर अपने ढग से, न कि विदेशी ढग से। स्मरण रक्खो कि जबतक उत्साह के साथ अपनी ही रीति नीति का अनुसरण न करोगे तबतक कुछ न होगा। अपनी बातों को बुरी दृष्टि से

देखना पागलपन है। रोना निस्साहसों का काम है। अपनी भलाई अपने हाथ से हो सकती है। माँगने पर कोई नित्य डबल-रोटी का टुकडा भी न देगा। इससे अपनपना मत छोडो। कहना मान जाव। आज होली है।

हाँ, हमारा हृदय तो दुर्दैव के बाणों से पूर्णतया होली ('होल' अंगरेजी में छेद को कहते हैं, उससे युक्त) है। हमें तुम्हारी सी जिंदादिली (सहृदयता) कहाँ से सूझे ?

तो सहृदयता के बिना कुछ आप कर भी नहीं सकते। यदि कुछ रोए पीटे दैवयोग से हो भी जायगा तो "नकटा जिया बुरे हवाल" का लेखा होगा। इससे हृदय में होल (छेद) हैं तो उन पर साहस की पट्टी चढाओ। मृतक की भाँति पडे पडे काँखने से कुछ न होगा। आज उछलने ही कूदने का दिन है। सामर्थ्य न हो तो चलो किसी हौली (मद्यालय) से थोडी सी पिला लावें, जिसमें कुछ देर के लिए होली के काम के हो जाओ। यह नेस्ती काम की नहीं।

वाह तो क्या मदिरा पिलाना चाहते हो ?

यह कलियुग है। बडे बडे वाजपेयी पीते हैं। पीछे से बल, बुद्धि, धर्म, धन, मान, प्रान सब स्वाहा हो जाय तो बला से। पर थोडी देर उसकी तरंग में "हाथी मच्छर, सूरज जुगनू" दिखाई देता है। इससे और मनोविनोद के अभाव में उसके सेवकों के लिए कभी कभी उसका सेवन कर लेना इतना बुरा

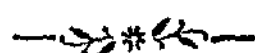
नहीं है जितना मृतचित्त बन बैठना। सुनिये! संगीत, साहित्य, सुरा और सौंदर्य्य के साथ यदि नियम विरुद्ध बर्ताव न किया जाय तो मन की प्रसन्नता और एकाग्रता कुछ न कुछ लाभ अवश्य देती है। और सहृदयता की प्रीति के लिए इन दो गुणों की आवश्यकता है जिनके बिना जीवन की साथकता दु साध्य है।

वलिहारी है महाराज इस क्षणिक बुद्धि की! अभी तो कहते थे कि मन को किसी झगडे में फँसने न देना चाहिए और अभी कहने लगे कि मन की एकाग्रता के बिना सहृदयता तथा सहृदयता के बिना जीवन की सार्थकता दु साध्य है। धन्य हैं यह सरगपत्ताली बातें! भला हम आपको अनुरागी समझें या विरागी?

अरे हम तो जो हैं वही है, तुम्हें जो समझना हो समझ लो। हमारी कुछ हानि नहीं है। पर यह सुन रक्खो, सीख रक्खो, समझ रक्खो कि अनुराग और विराग वास्तव में एक ही हैं। जबतक एक ओर अचल अनुराग न होगा तबतक भक्त के मदराग में विराग नहीं हो सकता और जबतक सब ओर से आतरिक विराग न हो जाय तब तक अनुराग का निर्वाह सहज नहीं है। इसीसे कहते हैं कि हमारी बातें चुपचाप मान लिया करो, बहुत अक्किल को दोड़ा दौडा के थकाया न करो। हँसी में आनन्द भी आता है और हृदय का कपाट भी खुल जाता है। साधारण बुद्धिवाले लोग भगवान्

धम्मपदम् (धर्मपद)

[श्रीरवींद्रनाथ टैगौर]



ससार मे जो कई एक श्रेष्ठ धर्म ग्रथ हैं उनमे 'धम्मपद' भी एक है। बौद्धों का कहना है कि इस ग्रथ में जितनी बातें हैं वे स्वय भगवान् बुद्ध की कही हुई हैं और बुद्ध की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद यह ग्रथ सकलित हुआ है।

निश्चित रूप से कहना तो कठिन है कि इस ग्रथ के सभी उपदेश बुद्ध के कहे हुए हैं या नहीं। परतु कम से-कम यह बात अवश्य माननी पडेगी कि यह सब नीति-वाक्य भारतवर्ष में बुद्ध के समय में तथा उसके पहले के समय में भी प्रचलित थे। क्योंकि इस ग्रथ में बहुत से ऐसे श्लोक देखे जाते हैं जो महाभारत, पच-तत्र, मनुस्मृति आदि ग्रथों में भी देखे जाते हैं। यह बात पडित सतीशचद्र विद्याभूषण महाशय ने इस ग्रथ के बगला-अनुवाद की भूमिका में दिखलाई है।

यहाँ इसपर तर्क करना व्यर्थ है कि किसने किससे यह नीति-वाक्य लिए हैं। यही मान लेना ठीक है कि यह सब उपदेश भारतवर्ष में बहुत दिनों से चले आ रहे हैं। हमारा यह देश इसी प्रकार के अनेक विचार प्रकट करता रहा है।

बुद्धदेव अपने चारों ओर बिखरे हुए विचारों को सहज में एकत्रकर तथा अपनाकर उन्हें चिरस्थायी बना गये हैं । बुद्धदेव ने चारों ओर बिखरे हुए उपदेशों को जमा करके मनुष्यों के लिए उपयोगी बना दिया है । अतएव जिस प्रकार भगवत्‌गीता मे भारतवर्ष के विचारों का साक्षात परिचय मिलता है, गीता के उपदेशक ने जिस प्रकार भारतीय विचारों को एक जगह पर सुश्रृखला से स्थापित कर दिया है, उसी प्रकार धम्मपदम् ग्रथ में भी भारतवर्ष के हृदय का बहुत कुछ परिचय प्राप्त होता है। इसी कारण क्या धम्मपदम् मे और क्या गीता में बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनकी छाया भारत के अन्य ग्रथों में देखी जाती है।

जो लोग धर्म ग्रथों को धर्म-ग्रथ समझकर पढते हैं उनको उन ग्रथों से क्या लाभ होता है — इसपर हम यहाँ विचार करना नहीं चाहते। इस समय हम ऐतिहासिक दृष्टि से ही इस विषय को देखेंगे । इसी कारण हमने सार्वभौमिक भाव से न दिखा-कर केवल यही बात उठाई है कि भारत के साथ इसका क्या सबध है।

जिस प्रकार सब मनुष्यों के जीवन चरित्र एक-से नहीं होते उसी प्रकार सब देशों के इतिहास भी समान नहीं होते । इस कारण हम जब कहते हैं कि भारतवर्ष मे इतिहास की सामग्री नहीं मिलती तब इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि भारत में यूरोप के इतिहासों के ढग की सामग्री नहीं मिलती । अर्थात्

भारतवर्ष का इतिहास राष्ट्रीय इतिहास नहीं है । भारतवर्ष में एक या अनेक जातियाँ मिलकर कभी राष्ट्र-चक्र नहीं बाँध सकीं। इस देश में कौन कब राजा हुआ, उसने कितने दिनों तक राज्य किया, इन बातों को लिखकर इन्हे इतिहास का रूप देने की प्रवृत्ति भारतवासियों में कभी नहीं हुई ।

भारत की प्रवृत्ति यदि राष्ट्र गठन की ओर होती तो अवश्य ही आज भारत मे वहुत वडी बडी इतिहास की सामग्रियाँ देखने को मिलतीं और उनसे आधुनिक इतिहासज्ञों का काम भी बहुत कुछ सहज हो जाता । किंतु यह देखकर मैं इस बात को किसी तरह स्वीकार नहीं कर सकता कि भारत ने अपने अतीत और भविष्य को किसी एक सूत्र में ग्रथित नहीं किया । उनका कोई इतिहास नहीं है—नहीं माना जाता । वह सूत्र सूक्ष्म है, परतु उसका प्रभाव साधारण नहीं है । स्थूल भाव से वह देख नहीं पडता, परतु उसीने अब तक हमें अपने पूर्वजो से अलग होने नहीं दिया । उसने सर्वत्र केवल वैचित्र्यहीन साम्यवाद का ही प्रचार नहीं किया, किंतु सारी विचित्रता और विपमता के भीतर उसने एक मूल गत अदृश्य सयोग-सूत्र पिरो दिया । अतएव महाभारत से वर्णित भारत तथा इस बीसवीं सदी का भारत, बहुत-सी बडी बडी बातों में भिन्न होने पर भी एक ही बने हें। दोनों की नाडियों में एक ही खून बह रहा है ।

यही सयोग भारत के लिये सब से अधिक सत्य है और इस सयोग का ही इतिहास भारत का यथार्थ इतिहास है। यह सयोग किसके द्वारा हुआ है । यह बात तो पहिले ही कही जा चुकी है कि राष्ट्रीय स्वार्थ इस सयोग का मूल कारण नहीं है । सक्षेप में कहा जा सकता है कि धर्मियों ने ही उक्त सयोग बना रक्खा है।

परतु धर्म क्या है—इस विषय में बड़े बडे तर्क किये जा सक्ते हैं । भारतीय धर्म के बाह्य रूप में समय-सयय पर विशेष परिवर्तन भी हुए हैं।

परिवर्तन के माने पिछड जाना नहीं है । बाल्यावस्था युवावस्था के रूप में परिवर्तित होती है । इसका यह अर्थ नहीं है कि बाल्यावस्था का नाश हो जाता है, किंतु बाल्यावस्था का यौवन के रूप में विकास होता है । यूरोप के इतिहास में भी राष्ट्रीय प्रकृति में बडे बडे परिवर्तन हुए हैं । उस परिवर्तन के परिणति (पुष्टि) का चेहरा दिखला देना ही इतिहास-वेत्ता का काम है।

यूरोप की जातियों ने अनेक प्रयत्न और परिवर्तनों के द्वारा राष्ट्र सगठित करने का उद्योग किया है । और भारतवासियों ने अनेक प्रयत्न और परिवर्तनों के द्वारा धर्म के समाज में एक आकार, देने का प्रयत्न किया है । केवल एक इसी चेष्टा के कारण प्राचीन भारत के साथ आधुनिक भारत का मेल है।

यूरोप में धम की चेष्टा ने आंशिकभाव से काम किया है। पूरी तौर से सब तरह का काम राष्ट्र की चेष्टा ही से हुआ है। धर्म की अलग उत्पत्ति होने पर भी वह राष्ट्र का अग बना दिया गया है। दैव सयोग मे जहाँ यह बात नहीं हुई वहाँ राष्ट्र के साथ धर्म का चिरस्थायी विरोध हो गया है।

भारतवर्ष में मुगलो के शासनकाल में शिवाजी के नेतृत्व ने जब राष्ट्र सगठन की चेष्टा मे सिर उठाया था, तब वह धर्म पर लक्ष्य रखना नहीं भूला था। शिवाजी के धर्म गुरु स्वामी रामदास इस उद्योग के प्रधान परिचालक थे। अतएव यह देखा जाता है कि भारतवर्ष में राष्ट्र सगठन ने अपने को धर्म का एक अग बना लिया था।

पालिटिक्स और नेशन ये दो शब्द जैसे खास यूरोप के हैं, वैसे ही धर्म शब्द भारत का है। पालिटिक्स और नेशन शब्दो का ठीक अनुवाद जैसे हमारी भाषा में नहीं हो सकता वैसेही धर्म का प्रतिशब्द यूरोप की भाषाओ मे नहीं मिल सकता। अतएव अगरेजी रिलीजन के रूपमे धर्म की कल्पना करके अक्सर हम भ्रम में पड जाते है। यही कारण है कि "धर्म चेष्टा का एका ही भारत का एका है" यह बात आजकल के लोगों को असगत सी जान पडेगी।

साधारणत मनुष्य किसी फल के लिए कोई काम करते हैं और उसी के द्वारा उनकी प्रकृति का परिचय प्राप्त होता है। जमा

करने के लिए भी धन कमाया जाता है और परोपकार करने के लिए भी। जो परोपकार के लिए धन कमाता है उसके धनार्जन के मार्ग मे अनेक बाहरी विघ्न उपस्थित होते हैं और उन्हे उन विघ्नों को सावधानी से हटाकर आगे बढना पडता है। और जो केवल लोभ मे ही धन कमाते हैं उनके लेखे में विघ्न-बाधायें कोई चीज ही नहीं हैं।

अब प्रश्न यह है कि भले कामों के लिए ही क्यों धन कमाया जाय। इस प्रश्न के उत्तर मे यह सोचकर देखना होगा कि यह भारत क्या समझकर लोभ से बढकर त्याग को और प्रेम से बढकर श्रेय को मानता आया है।

जो मनुष्य बिलकुल अकेला है, जिसका सबध किसी से नहीं है, उसके लिए कोई भी काम भला या बुरा नहीं है। अतएव शुरू से ही आत्मा और अनात्मा के सत्य सबध का निर्णय कर लेना आवश्यक है। सदा से भारत की यही प्रधान चेष्टा रही है कि इस सबध का निर्णय करके उसी के अनुसार अपने जीवन के सब काम करो।

सब से बढकर आश्चर्य तो यह है कि यहाँ भिन्न-भिन्न सप्रदायों ने भिन्न भिन्न रूप से इस सबध की मीमासा की है किंतु 'व्यवहार' में सब एक ही जगह आकर मिल गये हैं।

एक सप्रदाय के लोग कहते हैं कि आत्मा अनात्मा में

कोई वास्तविक भेद नहीं है। जो भेद मालूम पडता है उसका कारण अविद्या है।

किंतु यदि आत्मा अनात्मा एक ही हैं, दो नहीं हैं तो फिर भले बुरे कर्म क्यों माने गये हैं? केवल अभिन्न कह देने से तो सहज मे छुटकारा नहीं मिल सकता। जिस अज्ञान ने एक को दो बना दिया है उसको मिटाना होगा। नहीं तो माया के चक्र मे पडकर अनत दु ख भोगने पडेगे। इसी लक्ष्य पर दृष्टि रखकर भले और बुरे कामों का निर्णय करना होगा।

दूसरे सप्रदायवाले कहते हैं कि यह जो ससार चक्र घूम रहा है, इसके साथ हम भी वासना की डोर मे बँधे हुए घूम रहे हैं और अनेक दु ख उठाते हैं, एक कर्म के द्वारा दूसरा और दूसरे के द्वारा तीसरा, इसी प्रकार हमने अनत कर्मो की शृखला बना रक्खी है। इस कर्म पाश को काटकर मुक्त होना ही मनुष्य के लिए एकमात्र श्रेय है।

किंतु सब कर्मो को छोड देना ही ठीक है। किंतु नहीं, यहाँ भी इस तरह सहज मे छुटकारा नहीं हो सकता। कर्म को इस तरह नियमित करना चाहिये जिससे उसका बधन आप शिथिल पड जाय। इसी बात पर लक्ष्य रखकर कौन कर्म शुभ हैं और कौन अशुभ, इसका निर्णय करना होगा।

अन्य सप्रदायवाले कहते हैं कि यह ससार भगवान् की

लीला है । इसी लीला में भगवान् के प्रेम और आनद का अनुभव कर सकने से ही मनुष्य जीवन सार्थक होता है ।

वास्तव में देखा जाय तो यह सार्थकता का उपाय भी पूर्वोक्त दोनों सप्रदायों के उपाया से भिन्न नहीं है । अपनी वासना को कम किये बिना भगवान् की इच्छा का अनुभव नहीं किया जा सकता । भगवान् की इच्छा में अपनी इच्छा को छोड देने का ही नाम मुक्ति है । इसी मुक्ति को ध्यान मे रखकर शुभाशुभ कर्मो का निश्चय करना होगा ।

अद्वैतानद को प्रधान माननेवाले भी वासना मोह को काटने के लिए उद्यत हैं । जो कर्म पाश से छूट जाना ही मुक्ति समझते हैं वे भी वासनाओं को जडमूल से उखाड डालना चाहते हैं और जो भगवान् के प्रेम मे अपने को मिला देना चाहते हैं वे भी विषय वासना के त्याग के पक्षपाती हैं ।

इन भिन्न भिन्न सप्रदायों के उपदेश यदि केवल शाब्दिक होते, यदि ये उपदेश केवल जानने और सुनने ही के लिए होते तो नि सदेह हम लोगों में आपस में ही बडा विरोध होता । परतु वैसा नहीं है । इन सप्रदायों ने अपने इन भिन्न भिन्न सिद्धाता के अनुसार काम करने का भी प्रयत्न किया है। वे सिद्धात चाहे जितने सूक्ष्म या स्थूल हो और उनके अनुसार कार्य करने के लिए चाहे जितनी दूर तक जाना पडे, हमारे धर्म-गुरुओं ने निर्भीक चित्त से सब प्रकार से

उन सिद्धातों को कर्म के द्वारा सफल करने का प्रयत्न किया है। भारत ने कभी किसी बडे काम को असाध्य या सासारिक जीवन के साथ असगत समझकर कायरता के मारे केवल कहने की बात नहीं बना रक्खा। यही कारण है कि जो भारत एक समय मास-भोजी था वही आज प्राय. निरामिषाहारी हो गया है। ससार में ऐसे दृष्टात और कहीं नहीं पाये जाते। जो यूरोप-जातीय परिवर्तन में सुभीता ही देखते हैं वे यह कह सकते हैं कि खेती का चलन होने पर आर्थिक सुविधा के लिए भारत ने गोमास-भक्षण का परित्याग किया है। परतु मनु आदि धर्म-शास्त्रों में विधान रहने पर भी सब प्रकार का मास खाना, यहाँ तक कि मत्स्य-भोजन भी, भारत के अनेक स्थानों से उठ गया है। किसी प्राणी की हिंसा मत करो—इस आज्ञा का पालन जैन लोग बडी दृढता से करते हैं। इस आज्ञा के पालन मे वे सासारिक सुविधा-असुविधा की परवा नहीं रखते।

अस्तु। तत्वज्ञान जिस पद तक पहुचा है वहाँ तक कर्म को भी भारतवर्ष घसीट ले गया है। भारत ने तत्व और कर्म मे भेद नहीं माना। अतएव यहाँ कर्म ही धर्म माना जाता है। हम कहते हैं कि मनुष्यो के सारे कर्मों का अतिम लक्ष्य है कर्म से मुक्ति और मुक्ति के लिये कर्म करना ही धर्म है।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि भारतियो के धार्मिक सिद्धातों में चाहे जितना विरोध हो, किंतु कर्म में कुछ

भी भेद नहीं है। अद्वैत तत्व के अनुभव का ही मुक्ति मानिये, या प्राचीन सस्कारों के विनाश को ही मुक्ति कहिए, अथवा भगवान् के अतुल प्रेमानद के अनुभव में ही मुक्ति समझिए, प्रकृति-भेद के अनुमार चाहे जो मुक्ति का आदर्श अपनी ओर चित्त को आकृष्ट करे, मुक्तिमार्ग मे जाने के उपायों में एक तरह की एकता है। मनुष्य के सब कर्मों को निवृत्ति की ओर लगाना ही एकता है। एक सीढी जैसे दूसरी सीढी को नाघने का उपाय है वैसे ही भारत में कर्म ही कर्म को नाघने का उपाय माना गया है। भारत के समस्त शास्त्र और पुराण यही उपदेश देते हैं। भारत का समाज इसी भाव पर स्थापित हुआ है।

यूरोप ने कर्म को ही कर्म से मुक्ति होने की सीढी बनाया। उसका लक्ष्य केवल कर्म ही है। इसी कारण यूरोप के कर्म युद्ध का अत नहीं है। वहाँ का कम दिनों दिन विचित्र और वृहन् होता जाता है वहाँ के सभी मनुष्यों का उद्देश्य है कर्म में सफलता पाना। यूरोप का इतिहास कर्म का ही इतिहास है।

यूरोप की दृष्टि में कर्म का बडा महत्व है। अतएव कर्म करने के सवध मे सब स्वाधीनता चाहते हैं। हमारी जो इच्छा है वही करेंगे। वह स्वाधीन इच्छा जहाँ पर दूसरे की काम करने की स्वाधीनता को मिटाती है, वहीं केवल कानून की जरूरत है। इस कानूनी शासन के विना वहाँ के समाज में

हर एक की यथासभव स्वाधीनता रह ही नहीं सकती। अतएव यूरोप के समाज में सारा शासन और शासन का अभाव प्रत्येक मनुष्य की इच्छा को स्वाधीन बनाने के लिए ही कल्पित है।

भारतवर्ष ने भी स्वाधीनता चाही है, परतु वह स्वाधीनता, एकदम सब कर्मों से स्वाधीन होना है। हम जानते हैं कि हम लोग जिसको ससार कहते हैं उसमें कर्म का ही कर्तृत्व है मनुष्य उसका वाहनमात्र है। जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यंत हम लोग एक वासना के अनतर दूसरी वासना, एक कर्मी के पीछे दूसरे कर्मी को लादे रहते हैं। दम लेने की भी फुरसत नहीं मिलती। अत मे उन कर्मों को दूसरे के सिर लादकर एकाएक हम मृत्यु के गढे में गिर जाते हैं। वासनाओं की चोट से जन्म भर अनत कर्म करते जाना एक प्रकार की गुलामी है। इसी गुलामी की जड उखाडना भारत का अभीष्ट है।

इस प्रकार लक्ष्य के भिन्न होने के कारण ही यूरोप ने अपनी वासनाओं को यथासभव स्वाधीनता दे दी है और भारत ने उन्हे यथासभव कम करने का उद्योग किया है। वासना से किसी दिन भी शाति प्राप्त होने की आशा नहीं है। वह परिणाम-हीन कर्म करने की चेष्टा को जगाया करती है। इसीको हम वासना का ऊधम समझते हैं और उसे दूर करने का उद्योग करते हैं। यूरोप का कहना है कि वासना किसी परिणाम पर नहीं पहुँचती, वह निरतर हमारी उद्योग-शक्ति को जगाये रहती है।

यही उसका गौरव है। यूरोप कहता है कि 'प्राप्ति' में नहीं, 'प्रयत्न' में आनद है। किंतु भारत कहता है कि जिसको तुमलोग 'प्राप्ति' समझते हो उसमें अवश्य ही आनद नहीं है, क्योंकि उस प्राप्ति में हमारा प्रयत्न समाप्त नहीं हो जाता। उस सिद्धि के प्राप्त होने से हमारे प्रयत्न का अत नहीं होता। वह प्राप्ति हमें दूसरी प्राप्ति की ओर खींच ले जाती है। प्रत्येक 'प्राप्ति' को 'परिणाम' समझकर हम धोखा खाते हैं। पीछे जान पडता है कि यह परिणाम नहीं है। जिसकी प्राप्ति में हमारी शाति है, हमारे प्रयत्न की समाप्ति है, उससे यह भ्रम हमें नष्ट कर देता है। यह भ्रम हमको किसी तरह छोडना नहीं चाहता। अतएव उस युक्ति से विरोध रखनेवाली वासना को हम कमजोर कर देंगे। हम कर्म पर विजय प्राप्त करेंगे, कर्म का प्रभुत्व अपने ऊपर न होने देंगे।

हम लोगों के गृहधर्म, संन्यास धर्म, आहार विहार आदि के नियम सयम, वैरागी भिक्षुओं के ज्ञान से लेकर तत्त्व-ज्ञानियों की शास्त्र व्याख्या तक मे सर्वत्र इसी भाव की प्रधानता है। किसान से लेकर पडित पर्यंत सभी यह कहते हैं कि हमने यह दुर्लभ मनुष्य जन्म मुक्ति-मार्ग के अनुगामी होने के लिए, इस अनत ससार-चक्र के आकर्पण से परित्राण पाने के लिए पाया है।

सस्कृत भापा में 'भव' शब्द का अर्थ है 'होना'। भव का बधन अर्थात होने का बंधन हम काटना चाहते हैं।

इस प्रकार की भयानक स्वाधीनता पाने के लिए प्रयत्न करना अच्छा है या बुरा, इसका विचार करना बडा ही कठिन है। जो स्वभाव से ही विरक्त हैं, वे आसक्त मनुष्यों से मिलकर विपत्ति में पड सकते हैं। कभी कभी तो उनके लिए प्राण-संकट भी उपस्थित हो सकता है। अन्य पक्ष मे यह कहा जा सकता है कि मरना-जीना ही सार्थकता की चरमसीमा नहीं है। एक समय फ्रांस मे राष्ट्रीय विप्लव उपस्थित हुआ था, उस समय फ्रांस ने अपनी स्वाधीनता के एक विशेष आदर्श की रक्षा करने का प्रयत्न किया था। उस चेष्टा में फ्रांस के प्राणों पर आ बनी थी। यदि उस प्रयत्न मे फ्रांस की मृत्यु ही हो जाती तो क्या इससे उसका गौरव कम होता ? एक मनुष्य नदी में डूब रहा है, दूसरा मनुष्य उस डूबते हुए की रक्षा करने के लिए नदी में कूद पडा और वह डूब कर मर गया। किंतु एक तीसरा मनुष्य नदी के किनारे चुपचाप बैठा रहा। इसलिए क्या आप किसी के प्राण बचाने की चेष्टा को जान जोखिम का काम कह कर बुरा कहेंगे ? इस समय पृथ्वी के सब देश वासना की आग को प्रबल और कर्म के उपद्रव को उत्कट बना रहे हैं। यदि आज भारतवर्ष जडभाव से नहीं, मूढभाव से नहीं—जागते हुए सचेत-भाव मे इस वासना-क्षय के आदर्श को, इस शांति की विजय-पताका को, विश्वव्यापी रुधिरात्क विप्लव के ऊपर अविचलित दृढ भाव से धारण करके मर सकता तो और

सन इसे चाहे जितना धिक्कारते, किंतु मृत्यु इसका अपमान कभी न करती।

इतिहास की बहुत सी सामग्री बौद्ध-साहित्य में वर्तमान है। बहुत दिनों से हम लोग इस शास्त्र का अनादर करते आए हैं। परन्तु देखते हैं कि यूरोपीय पंडितगण इस शास्त्र के उद्धार के लिए प्रयत्न कर रहे हैं और हम लोग उनके पीछे पीछे चलने के अवसर की प्रतीक्षा में बैठे हैं। हमलोगों के लिए यह बड़ी ही लज्जा की बात है। गवर्नमेंट के पास जाकर भिक्षा की याचना करने ही में हम लोगों का देश प्रेम समाप्त हो जाता है। क्या सारे देश में चार-पाँच भी ऐसे मनुष्य नहीं निकलेंगे जो बौद्ध-शास्त्रों के उद्धार को अपने जीवन का व्रत बनावें? बौद्ध-साहित्य के ज्ञान के बिना इस समय भारत का इतिहास अधा बना हुआ है। इस बात को जानकर भी क्या देश के नवयुवक इस ओर ध्यान न देंगे?

भाषा का विकास

[श्रीनलिनी मोहन सान्याल, भाषा-तत्व-रत्न, एम० ए०]



जबतक मनुष्य एकत्र होकर परस्पर सहायता नहीं करते तबतक मनुष्य जाति की उन्नति नही होती। अतएव उन्नति के लिए समाज का प्रयोजन है। समाज में श्रम विभाग रहता है तथा परस्पर की सहायता मिलती है। हर एक व्यक्ति समाज के अधीन है। समाज से उसे कुछ मिलता है और वह भी समाज को कुछ देता है। नये वश के मनुष्य पूर्वजो की सपत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं। एक व्यक्ति के मन मे जो अनुभूतियाँ होती हैं, यदि दूसरे उसके पथ को सुगम नहीं कर देते तो वे इस प्रकार नहीं होतीं। दूसरों के अनुकरण से मनुष्य कुछ शारीरिक क्रियाओ में भी अभ्यस्त होता है और पीछे से अन्य वस्तुओ में वह इन क्रियाओं को उत्पन्न कर सकता है। यद्यपि ये क्रियाएँ शारीरिक हैं, तथापि इनका प्रयोग करना या रोकना उसकी इच्छाशक्ति के अधीन है। अतएव इनमे कुछ मानसिक व्यापार भी है। ये शारीरिक क्रियाएँ पुराने वश से नूतन वश में भी चली आती हैं। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक व्यक्ति पर कुछ शक्ति का प्रयोग करता है, जिमसे उन्नति या अवनति होती है।

अब देखना चाहिए कि परस्पर के प्रभाव से भाषा का विकास किस प्रकार होता है । शारीरिक क्रिया के द्वारा ही एक मन का प्रभाव दूसरे मन पर पडता है । एक मन दूसरे मन पर एकाएक कोई क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकता । यह एक मूल सत्य है कि जब दो मनुष्य एक मत के होते है तब उस मत का आरभ एक ही व्यक्ति के मन में होता है । एक मन की क्रियाएँ दूसरे मन की क्रियाओं से भिन्न है, किंतु इनमें कुछ साहश्य भी है । इस साहश्य के अनुभव के आधार पर व्यक्तिगत मनस्तत्त्व से साधारण मनस्तत्त्व बना है । साधारण मनस्तत्त्व को पूरी तरह समझने के निमित्त व्यक्तिगत मनस्तत्त्व के ज्ञान की आवश्यकता है । हमारे पूर्वजों के मनोभावों के क्रम को समझने के लिए पूर्वकाल के व्यक्तियों की मानसिक क्रियाओं के क्रम का ज्ञान आवश्यक है । प्रत्येक मन में प्रारभ से ही कुछ सहजात सस्कार रहते हैं । जब किसी बाह्य वस्तु की उत्तेजना उसके शरीर पर पडती है तब उसकी क्रिया से सहश सहजात ज्ञान बदल-कर एक नूतन प्रतिच्छाया (Image) मे परिणत हो जाता है । ऐसी ऐसी प्रतिच्छायाओं के सयोग से हर एक मन मे भावों (Ideas) की समष्टियाँ बनती हैं । यदि एक मन इन भाव-समष्टियो (Groups) को दूसरे मन में चलाना चाहता है तो उस दूसरे मनुष्य मे ऐसी शारीरिक क्रियाएँ उत्पन्न करनी होंगी जिनसे उसके मन मे वही सब भाव समष्टियाँ उत्पन्न हों । इस

कार्य्य के निमित्त सबसे उत्कृष्ट साधन हैं भाषा की ध्वनियाँ । यद्यपि अंगभंगी, मुखमंडल के विकार, चित्र इत्यादि के द्वारा भी इस प्रकार का कुछ फल प्राप्त हो सकता है, तथापि उच्चरित भाषा सब से उत्तम उपाय है।

भाषा के द्वारा एक मन की भाव-समष्टियाँ दूसरे मन में चलित होती हैं। उसके द्वारा किसी के मन में भावों (Ideas) की सृष्टि नहीं हो सकती । भाषा के द्वारा अन्य व्यक्ति से प्राप्त भाव समष्टियाँ अपने सदृश पूर्व-जात संस्कारों से मिलकर मन में नूतन भाव निर्मित करती है।

एक मन के भाव दूसरे मन में ठीक ठीक प्रकाशित नहीं हो सकते । हम अपने मन के सिद्धांतों के अनुसार कल्पना कर लेते हैं कि दूसरे के मन की बातों को जान गये हैं । हम मान लेते हैं कि भौतिक जगत् के साथ दूसरों के मन का संबंध हमारे मन के संबंध के सदृश है, अर्थात् प्राकृतिक जगत् का प्रभाव हमारे शरीर पर पडने से हमारे मन में जैसे जैसे भाव होते हैं, दूसरों के शरीर पर पडने से उनके मन में वैसे ही भाव उत्पन्न होते हैं । क्योंकि मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं तथा जीवन की अवस्थाओं में कुछ न कुछ सादृश्य होता ही है । यदि हम मान लें तो परस्पर के मनोभावों को समझना सहज हो जायगा । सादृश्य जितना अधिक होता है, समझ उतनी ही अधिक होती है।

विवर्तनवाद का मूल सूत्र परिवर्तन है। हरएक प्राकृतिक व्यापार में कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है। यद्यपि मनुष्य ही जीव के क्रमिक विकास की चरम सीमा है, तथापि परिवर्तन के द्वारा मनुष्य इस उच्चता को पहुचता है। परिवर्तन होते ही जाते हैं। सभव है कि परिवर्तनों के कारण मनुष्य भविष्य में किसी दूसरी अवस्था को प्राप्त कर जाय।

मनुष्य मे जैसे और-और व्यापारो का परिवर्तन हो रहा है, वैसे ही भाषा का भी परिवर्तन हो रहा है और होता रहेगा। विवर्तन के नियम से अवयवी अर्थात् जीव या उद्भिद् जिन अवस्थाओं से परिवेष्टित रहता है, अपने को उन अवस्थाओं के लिए उपयोगी बना लेता है। मनुष्य भी अपने को परिवेष्टनों के लिए उपयोगी बना लेता है। अतएव उसकी भाषा, जो उसकी स्थिति और उन्नति का प्रधान साहाय्य है, उसके प्रयोजन के लिए उपयोगी होती है। यद्यपि यह भाषा के नये व्यापारों के उद्भव को नहीं जान पाता है, तथापि भाषा में कुछ न कुछ नूतनता आ ही जाती है। परिवर्तनो के कारण हैं—शारीरिक यन्त्रों का विकार, मानसिक वृत्तियों की भिन्नता, परिवेष्टनों की भिन्नता और प्रयत्न के घटने की चेष्टा। मनुष्य के शारीरिक तथा मानसिक गठन में भिन्नता है। भाषा वाग्यन्त्र से बोली जाती है और श्रवणेंद्रिय से सुनी जाती है। भाषा अनुकरण से बोली जाती है। श्रवणेंद्रिय की विभिन्नता के कारण दूसरों की ध्वनि ठीक ठीक

सुनाई नहीं देती, अतएव अनुकरण ठीक ठीक नहीं होता। वाग्यन्त्र की विभिन्नता के कारण उच्चारण का अनुकरण ठीक ठीक नहीं होता । मानसिक गठन की विभिन्नता के कारण शब्दों तथा वाक्यों के अर्थ ठीक-ठीक समझ में नहीं आते । अतएव अर्थ का अनुसरण ठीक ठीक नहीं आता।

भापा का व्यवहार करने में लोग आराम चाहते हैं । अल्प आयास से मनोभावों के प्रकाशित करने की चेष्टा हमेशा बनी रहती है । इसलिए क्रमश. शब्द सक्षिप्त हो जाते हैं । किसी प्रकार के परिवर्तन के विना चिंता सपूर्णता से व्यक्त हो और उस व्यापार में कहनेवाले या सुननेवाले को सबसे कम समय वा मानसिक प्रयत्न लगे, यही भापा की स्वाभाविक क्रिया है। भापा को इस प्रकार गुण युक्त करने के लिए, पढे-लिखे लोगों के सिवा साधारण लोग सम्मिलित होकर या इच्छापूर्वक चेष्टा नहीं करते। भापा की सीमा-बद्ध शक्ति के विरुद्ध असख्य मनुष्यों के प्रयास से उसके ये गुण उत्पन्न हो रहे हैं । यही है भापा की क्रिया-शीलता (Linguistic Activity) । मनुष्य जिन भावो को दूसरे के निकट प्रकाशित करना चाहता है उनके प्रकाश के निमित्त वह भापा का व्यवहार करता है। उन भावोंके प्रकाश के निमित्त वह अनजान में कभी कभी कुछ कुछ नूतन शब्द बनाता है। कभी-कभी वाक्यों में भी नूतन प्रकार से शब्दों को योजित करता है । जिन जिन शब्दों या रूपों को वह तत्काल

व्यवहार करता है, यदि वे उसके मनोभावों को प्रकाशित करने के उपयोगी हों अर्थात् यदि दूसरे उनको समझ जाय, तो वे शब्द या रूप भाषा में स्थायी हो सकते हैं। यदि वे उपयोगी, न हों तो विवर्तन के नियम से वे लुप्त हो जाते हैं।

थोड़ी देर के लिए शिष्ट अर्थात् साहित्यिक भाषाओं का ख्याल मन से दूर कीजिए और किसी साहित्यवर्जित असभ्य जाति की बोली की अवस्था को कल्पना में लाइए। देखियेगा कि उस बोली में व्याकरण का प्रयोग (ठेठ) का कोई बंधन नहीं है। उस जाति के लोग किसी प्रकार अपने मनोभावों को प्रकाशित करते हैं। हर एक व्यक्ति ध्वनियों को तथा रूपों को अपनी इच्छा के अनुसार परिवर्तित करता है।

जहाँ शिष्ट (Cultivated) भाषा प्रचलित है वहाँ भी इस विषय में हर एक व्यक्ति को स्वाधीनता प्राप्त है। बहुत लोग व्यवहार या प्रयोग को नहीं मानते और अपनी सुविधा के अनुसार शब्दों का तथा रूपों का प्रयोग करते है। यह भाषा की व्यक्तिगत कार्यकारिणी शक्ति (Individual linguistic activity) है। अतएव व्यवहार (Usage) की अपेक्षा भाषा की कार्यकारिणी शक्ति का प्रभाव अधिक है। व्यक्तिगत स्वाधीनता का प्रभाव बोलनेवाले के शारीरिक यंत्रों पर पड़ता है। यह प्रभाव सुननेवाले के शारीरिक यंत्रों पर भी पड़ता है। इस प्रकार के अपसरणों (Displacements) का प्रभाव पड़ते

पडते बहुत रूपों मे भिन्नता आ जाती है। वरन् एक ही व्यक्ति से अपसरण का आरभ होता है। कभी यह अपसरण स्थायी हो जाता है, कहीं विफल होता है।

अब देखना चाहिए कि भाषा के व्यवहारों या प्रयोगों (Lingustic usage) तथा उसकी व्यक्तिगत कार्य्यकारिणी शक्ति में क्या सबध है। किसी भाषा के बोलनेवाले समाज का एक व्यक्ति उस भाषा के बोलनेवाले सब उपादानों का व्यवहार नहीं करता। कोई कुछ शब्दो का प्रयोग करता है, कोई दूसरों का। भाषा के भिन्नता के होने का यही प्रधान कारण है और इसी के व्यवहारो का क्रमिक अपसरण सभव होता है।

व्यक्तियों में स्वाभाविक कार्य्यकारिणी शक्ति के रहने पर भी वे भाषा की रीति के अनुसार बोलते हैं। परतु दूसरों का प्रभाव उनपर पडता है। उनके बोलने में जब कुछ व्यतिक्रम पाये जाते हैं तभी मालूम होता है कि भाषा के अपसरण का प्रभाव उन पर पडा है। भाषा के व्यवहारों का परिवर्तन सब की सहायता के विना नहीं हो सकता। परतु प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर दूसरों का प्रभाव पडने की सभावना रहती है। इस प्रभाव के पडने का मुख्य काल है बाल्यावस्था, जब बालक पहले पहले भाषा सीखता है।

भाषा के व्यवहारों का परिवर्तन दो प्रकार से होता है— (१) नूतन रूप की सृष्टि और (२) पुरातन रूप का लोप कभी कभी

पुरातन रूप लुप्त हो जाता है और उसके स्थान में नूतन रूप प्रविष्ट होता है। ध्वनियो का परिवर्तन एक तीसरे प्रकार से होता है। व्यवहारों के परिवर्त्तनो का श्रेणीविभाग हम एक भिन्न प्रकार से भी कर सकते हैं—(१) कभी ध्वनि बदल जाती है और (२) कभी अर्थ बदल जाता है। अर्थात् कभी एक शब्द की ध्वनि बदल जाने पर भी अर्थ नही बदलता और कभी ध्वनि के न बदलने पर भी अर्थ बदल जाता है, कभी ध्वनि और अर्थ दोनों बदल जाते हैं। परतु व्यवहारों के परिवर्तन में कार्य कारण का भाव नहीं है। हम यह नही कह सकते कि जब ध्वनि बदल गई है तब अर्थ भी बदलना चाहिये। जब भापा की सृष्टि हुई थी तब एक ध्वनि का एक ही अर्थ निर्दिष्ट हुआ था। इसके बाद परिवर्तन का आरभ हुआ और इसी समय के कुछ पश्चात् निर्दिष्ट अर्थ के अनुसार अर्थ युक्त मूल ध्वनियों के उन अर्थों के आधार पर नूतन सयोग होने लगे। इस व्यापार में उपमान (Analogy) की शक्ति बहुत अधिक है। यद्यपि उपमान का प्रभाव ध्वनियों पर अल्प परिमाण से पडता है, तथापि जहाँ ध्वनि विकार अर्थ की सहायता से होता है, वहाँ इसका प्रभाव अत्यत अधिक है।

दमयंती का चंद्रोपालंभ

[श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी]

राजा नल की अद्भुत रूपराशि, गुणावलि, बल, प्रभुत्व, दानशीलत्व आदि सुन कर विदर्भ-देश के राजा भीम की कन्या दमयती उस पर आसक्त हो गई। उसने अपने मन में यह प्रतिज्ञा की कि यदि मैं किसी के साथ विवाह करूगी तो नल ही के साथ करूगी। उधर एक हस से दमयती के रूप लावण्य की प्रशसा सुनकर नल भी उस पर मोहित हो गया। हस ने दूतत्व किया और दमयती के पास जाकर उसके नल-विषयक अनुराग को और भी बढा दिया। उसने दमयती से यह भी वादा किया कि उपाय भर मैं तुम दोनों का विवाह करा दूँगा।

हस के चले जाने पर दमयती दिन-रात नल का चिंतन करने लगी। वह बहुत कृश हो गई, खाना-पीना बहुत कुछ छूट गया, दुनिया की और सभी बातों से उसकी विरक्ति हो गई। वियोगविषयक कवि-समय-सिद्ध आपदाओं ने एकमात्र उसी का सहारा ले लिया। ससार में योग हो जाने पर, वियोग की घटना होती है। पर श्रीहर्ष की सृष्टि में नल से योग होने के पहले ही दमयती पर वियोग-विपत्ति के बादल फट पडे। उसे

उन्माद सा हो गया। वह विलाप करने और आकाश पाताल के कुलावे मिलाने लगी। एक रात को जो उसे षोडश कलाओं से पूर्ण, शिशिरवर्षी शीतकर दिखाई दिये तो उसका दु ख दूना हो गया। उसने चन्द्रमा की बडी निंदा की। पर राहु के लिए कहा—बडा बहादुर है, बडा परदु ख-कातर है, पापी चद्रमा को खा जाता है। परोपकारव्रती हो तो राहु जैसा हो, वियोगविधुराओं को बचाने की बेचारा बडी चेष्टा करता है।" इस प्रकार कहते सुनते जब उसका स्मर-ताप नामक मर्ज बहुत बहुत बढ गया तब वह अपनी रोती हुई सखी से बोली—

सुन, मै तुझसे गणित-शास्त्र की बात कहती हूँ। उसके आचार्यों ने यह तो लिख दिया कि देवताओं का युग ब्रह्मा के इतने दिनों के बराबर होता है और मनुष्यों का इतने के। पर ये कम अक्ल आचार्य यह लिखना भूल ही गये कि सु-योगियों का एक दिन वि-योगियों के कितने युगों के बराबर होता है। इन्हे यह भी तो लिख देना था कि जो विरही नहीं हैं उनका एक क्षण विरहीजनों के एक युग के बराबर होता है। मगर इन बूढ़ों में इतनी बुद्धि कहाँ? इसी से इनकी यह युगादि गणना अधूरी ही रह गई।

सती अपने पिता दक्षप्रजापति के यज्ञ के अग्नि-कुंड में गिर-कर जल मरीं और फिर उन्होंने हिमालय के घर जन्म लिया। भोले-भाले लोग समझते हैं कि हिमालय की महिमा ही के

ख्याल से सती हिमालय की सुता बनीं। पर यह बात सरासर गलत है। हिमालय पर देवताओं का वास है, वह रत्न खनियों का स्वामी है, उस पर सैकड़ों दिव्य औषधियाँ उगती हैं, यह जानकर सती उसके घर नहीं पैदा हुई। असल बात यह है कि स्मराग्नि की अत्युग्र ज्वाला से सतप्त होने के कारण, विवश होकर, उन्हें हिमवान् के घर जन्म लेना पड़ा। उन्होंने सोचा कि मेरे शरीर का यह दाह हिम अर्थात् बर्फ के आकर हिमालय ही के आश्रय में शात हो सकता है, और किसी तरह नहीं। इसी से उन्हे बर्फिस्तान ढूँढना पड़ा। इसमें सदेह नहीं। एक बात मैं तुमसे और भी कहना चाहती हूँ। महादेवजी के मस्तक पर जो आग जल रही है वह, जानतीं है, क्या चीज़ है ? वह उनका तीसरा नेत्र नहीं। वह तो सती ही के विरह की आग की धधकती हुई लपट है। समझी।

समय कुछ ऐसा आगया है कि लोगो की अक्ल ही ठिकाने नहीं। वे समझते हैं कि लौकिक आग से जल जाने पर ही सबसे अधिक जलन होती है। लोगों की इस तरह की समझ पर तर्स आता है, क्योंकि उनकी इस समझ में कुछ भी सार नहीं। सबसे अधिक जलन विरहाग्नि से जलने पर ही उत्पन्न होती है। इसे ध्रुव सत्य समझ। यदि ऐसा न होता तो विधवा स्त्रियाँ, अपने पति के शव के साथ, अगले जन्म मे उससे

मिलने के लिए, खुशी-खुशी जीती ही क्यों जल मरतीं ? चिता की लौकिक आग को तो वे कुछ समझती ही नहीं । उसके सहारे—उसमें कूद कर—वे अपनी विरहाग्नि की व्यथा से बचना चाहती हैं, क्योंकि वह व्यथा साधारण आग में जल जाने की व्यथा से बहुत ही अधिक असह्य होती है ।

भले आदमी पापिष्ठों को शरण नहीं देते , उन्हें अपने घर में नहीं रखते । वे पुण्यात्माओं ही के पक्षपाती होते हैं और उन्हीं को अपने आश्रय में रखते हैं । पर इस दुर्विनीत चद्रमा की चाल विलकुल ही उलटी है । सखी, जरा इसकी दुष्टता को तो देख । यह कुमुदों का सगा है , इसकी अनेक किरणें कुमुदों को छूकर विमल, विशुद्ध, शीतल अतएव तापहारक होजाती हैं । पर उन्हीं को यह निकाल बाहर करता है । और रखता किनको है ? विरहिणी बधुओं के बध-जनित पाप पक से कलकित किरणों को ! उन्हीं दु सह पापिनी किरणों से यह मेरा स्पर्श करके मुझे पीड़ित करता है । भला इसके इस दुर्विनय—इस दौरात्म्य—का भी कुछ ठिकाना है ।

सखी, जरा इस दुरात्मा चद्र से यह तो पूछ कि तूने अबलाओं को जला कर खाक करने का गुरुमत्र किस गुरु से सीखा है । जिस समय तू महासागर के भीतर डूबा पडा था उस समय क्या वहीं जलते हुए बड़वानल से सीखा था ? अथवा समुद्र से निकलने के बाद, महादेव के मस्तक पर पहुँचने पर,

क्या उनके गले में स्थित कालकूट से सीखा है ? इन्हीं दोनों में से किसी एक से उसे दूसरों को जलाने की शिक्षा जरूर मिली होगी। मेरा अनुमान तो यही कहता है।

अच्छा, सखी, यह तो बता कि अँधेरी रात में जो अधिक तारे देख पड़ते हैं सो क्यों ? और ये तारे हैं क्या चीज ? तू शायद इस भेद को न जानती हो। इसलिए मैं ही बताती हूँ। वह चद्रमा बडा पापी है। इसने हजारों निरपराध नारियों की हत्या की है। और हत्यारे को सजा जरूर ही मिलती है। इस कारण धर्मराज इसकी टाँग पकडकर पहले तो इसे खूब चक्कर देता है, फिर कृष्णपक्ष की रात्रिरूपिणी शिला पर आकाश से पटक देता है और कहता है, ले अपने किये का फल भोग। इस तरह पछाडे जाने पर इसके टुकडे-टुकडे हो जाते हैं—नष्ट होकर यह चूर-चूर हो जाता है। ये तारे इसी चाडाल चद्रमा के शरीर के टूटे हुए टुकडे या कण हैं। अन्यथा अँधेरी रात मे ये तारा-नामक अनत चमकीले पिंड और कहाँ से आ सकते हैं ?

सखी, तू जरा देर के लिए मेरी वकालत कर दे। इस दुर्विनीत शशलाछन से यह कह कि जन्म तो मेरा परम कुलीन रत्नाकर में हुआ है और निवास स्थान तुझे मिला है देवाधिदेव महादेव के मस्तक पर। ऐसा होने पर भी तू क्यों इतना जघन्य कर्म कर रहा है ? क्यों तू निर्बल नारियों की हत्या कर करके

पाप के घडे भर रहा है ? यदि तुझे महत्ताशाली महासागर से उत्पन्न होने का कुछ भी खयाल नहीं तो क्या तू इस बात को भी भूल गया कि रहता कितने उच्च और कितने पवित्र स्थान पर है ? बडे कुल में जन्म लेकर और परमपवित्र स्थान में रह कर भी तूने कुटिलता न छोडी ! तुझ निर्लज्ज को शतवार धिक्कार !

रे कलकी चन्द्र ! तू तो चिरकाल तक उस समुद्र के भीतर था जिसे मदराचल ने मथा था। अच्छा तो तू उस पर्वत की कठोर ठोकरों से वहीं क्यों न चूर्ण हो गया ? और बच ही गया था तो तुझ सहित समुद्र को पी जानेवाले अगस्त मुनि की जठराग्नि से उनके पेट के भीतर ही, तू क्यों न जीर्ण हो गया ? बात है कि अधर्मिया और पापियों की बडी उम्र होती है। वे सहज में नहीं मरते।

रे जड ! तूने शायद यह न सुन रक्खा होगा कि मरने पर प्राणियों का मन तुझमें ही लीन हो जाता है। ("मनश्चद्रे निलीयते") श्रुति के इस विधान ही को ध्यान में रखकर क्या तू मुझे मार डालना और मेरे मन को ले लेना चाहता है ? यदि तेरा यही मतलब हो तो मुझे तेरी मूर्खता पर हँसी आती है। क्योंकि मेरे मृत मन के सबध में महापंडित मन्मथ ने उस श्रुति की व्याख्या और ही तरह कर रक्खी है। उसने अपने भाष्य में लिख दिया है कि मरने पर दमयती का मन राजा नल के मुखचन्द्र में विलीन हो जायगा। वही उसका चन्द्र है।

सों लीन होना तो दूर रहा, मेरा मन तुझ पापी के पास तक फटकनेवाला भी नहीं। मेरे मन के विषय मे श्रुति का यह अर्थ अपवादात्मक है। समझा ! तू जिस प्रकार के यश उपार्जन कर रहा है, कर। उसकी घोषणा भी तू नक्कारे की चोट ससार में कर। जिस जलनिधि वश मे तेरा जन्म हुआ है उसे खूब उज्ज्वल कर। वधू-वध सबधी पाप भी यथेच्छ बटोर। पर एक बात मत कर। मुझे मार भले ही डाल, कदर्थना मेरी न कर—व्यर्थ ही मुझे पीडा न पहुँचा। रात को सूर्य्य के न रहते तू कपट-सूर्य बनता है। अच्छा, बन। मुझे पीडित करले—मुझे जी भरकर जला ले। क्या रात ही बनी रहेगी ? प्रात काल होगा ही नहीं ? अवश्य होगा। तब मैं, इन्हीं आँखों से, प्रकृत सूर्य्य के द्वारा तेरी भानुता का झूठा घमड चूर होते देखूँगी।

हरिणलाछन ! लोग कहते हैं कि तू अमृत (अमृतमय) है और भूपपति (शकर) के आश्रय मेरहता है—उनका शिरोमणि है। इस दशा में रात के समय तुझे प्रज्वलित देख देखनेवालों के सिर विस्मय से जो हिल उठें तो ठीक ही है। क्योंकि जो अमृत है वही यदि अग्निमय हो जाय तो विस्मय होना ही चाहिए। मेरे लिए तो तू सचमुच ही बडा भयकर है। यदि अमृत ही (बेमरा हुआ अर्थात् जीवित ही) प्राणी, भूपपति (पिशाचों के स्वामी) का आश्रय लेकर अपनी भूतता प्रकट करे—दूसरों के शरीर में प्रविष्ट होकर उनका सिर हिलावे—तो

उसका यह कर्म अवश्य ही अद्भुत समझा जायगा। इस से मैं तेरी यह विस्मयजनक चेष्टा देखकर डर रही हूँ।

अरी सखी! कानों में खुसे हुए इन तमाल दलों को तू चन्द्रमा के हिरन को क्यों नहीं खिला देती? खिला, खिला। इन्हे इसके आगे डालदे। ये नये नये कोमल पत्ते खाकर वह हिरण यदि कुछ मोटा हो जाय और अपनी मुटाई से चन्द्रमा के कुछ अंश को ढक ले तो जरा देर के लिए मुझे दम लेने की तो फुरसत मिले। खेद तो इस बात का है कि समय पर बुद्धि काम नहीं देती। अवसर निकल जाने पर वह स्फुरित होती है। अभी-अभी, उस दिन, अमावस्या हस्तगत होकर निकल गई। याद ही न आई। नहीं तो मैं उसे बलवत् पकड रखती। अच्छा अब के आने दे। अब मैं उसे न छोडूँगी, पकड रक्खूँगी। ऐसा करने से इस चन्द्रमा का पुनरागमन रुक जायगा। मैं इस पापी का मुँह नहीं देखना चाहती।

भला यह मेरा चकोर-पक्षी यदि अगस्त्य जी का शिष्य हो जाय और समुद्र पान करना सीख आवे तो कैसा। यदि इसे वह विद्या आ जाय और यह समुद्र पायी हो जाय तो चन्द्रमा को पी जाना इसके लिए कौन बडी बात होगी। अभी तो यह उसकी तरफ टकटकी लगाकर केवल देखा करता है। फिर तो, उसकी किरणों को पी जाना, इसके लिए पानी के दो चार छींटे मुख में रख लेने के सदृश सहज काम होगा।

सो लीन होना तो दूर रहा, मेरा मन तुझ पापी के पास तक फटकनेवाला भी नहीं। मेरे मन के विषय में श्रुति का यह अर्थ अपवादात्मक है। समझा ! तू जिस प्रकार के यश उपार्जन कर रहा है, कर। उसकी घोषणा भी तू नक्कारे की चोट ससार में कर। जिस जलनिधि वश में तेरा जन्म हुआ है उसे खूब उज्ज्वल कर। वधू-वध सबधी पाप भी यथेच्छ बटोर। पर एक बात मत कर। मुझे मार भले ही डाल, कदर्थना मेरी न कर—व्यर्थ ही मुझे पीडा न पहुँचा। रात को सूर्य्य के न रहते तू कपट-सूर्य बनता है। अच्छा, बन। मुझे पीडित करले—मुझे जी भरकर जला ले। क्या रात ही बनी रहेगी ? प्रात काल होगा ही नहीं ? अवश्य होगा। तब मैं, इन्हीं आँखों से, प्रकृत सूर्य्य के द्वारा तेरी भानुता का झूठा घमड चूर होते देखूँगी।

हरिणलाछन ! लोग कहते हैं कि तू अमृत (अमृतमय) है और भूपपति (शकर) के आश्रय में रहता है—उनका शिरोमणि है। इस दशा में रात के समय तुझे प्रज्वलित देख देखनेवालों के सिर विस्मय से जो हिल उठें तो ठीक ही है। क्योंकि जो अमृत है वही यदि अग्निमय हो जाय तो विस्मय होना ही चाहिए। मेरे लिए तो तू सचमुच ही बडा भयकर है। यदि अमृत ही (बेमरा हुआ अर्थात् जीवित ही) प्राणी, भूपपति (पिशाचों के स्वामी) का आश्रय लेकर अपनी भूतता प्रकट करे—दूसरों के शरीर में प्रविष्ट होकर उनका सिर हिलावे—तो

उसका यह कर्म अवश्य ही अद्भुत समझा जायगा। इस से मैं तेरी यह विस्मयजनक चेष्टा देखकर डर रही हूँ।

अरी सखी! कानों में खुसे हुए इन तमाल दलों को तू चद्रमा के हिरन को क्यों नहीं खिला देती? खिला, खिला। इन्हें इसके आगे डालदे। ये नये नये कोमल पत्ते खाकर वह हिरण यदि कुछ मोटा हो जाय और अपनी मुटाई से चद्रमा के कुछ अश को ढक ले तो जरा देर के लिए मुझे दम लेने की तो फुरसत मिले। खेद तो इस बात का है कि समय पर बुद्धि काम नहीं देती। अवसर निकल जाने पर वह स्फुरित होती है। अभी अभी, उस दिन, अमावस्या हस्तगत होकर निकल गई। याद ही न आई। नहीं तो मैं उसे बलवत् पकड रखती। अच्छा अब के आने दे। अब मैं उसे न छोड़ूँगी, पकड रक्खूँगी। ऐसा करने से इस चद्रमा का पुनरागमन रुक जायगा। मैं इस पापी का मुँह नहीं देखना चाहती।

भला यह मेरा चकोर पक्षी यदि अगस्त्य जी का शिष्य हो जाय और समुद्र पान करना सीख आवे तो कैसा। यदि इसे वह विद्या आ जाय और यह समुद्र पायी हो जाय तो चद्रमा को पी जाना इसके लिए कौन बडी बात होगी। अभी तो यह उसकी तरफ टकटकी लगाकर केवल देखा करता है। फिर तो, उसकी किरणों को पी जाना, इसके लिए पानी के दो-चार छींटे मुख में रख लेने के सदृश सहज काम होगा।

ओ सखी ! मेरी आली ! लोहे का एक बड़ा सा हथौडा तो ले आ। लाई ? अच्छा, अब मेरा आइना आँगन में रख दे। फिर देखती रह। ज्योंही मेरे इस शत्रु शशाक का प्रतिबिंब आइने में देख पडे त्योंही उस पर हथौडे की एक चोट ऐसी मार कि उसका काम वहीं तमाम हो जाय। मेरे दिन इतने खोटे हैं कि ससार मे मेरी सहायता करनेवाला कोई भी नहीं। समुद्र ही को देख। वडवानल जैसी भीषण आग को तो वह पेट में डाले बैठा है। पर चद्रमा को उसने पेट के बाहर निकाल फेंका, जैसे वह भी उसके लिए कालकूट ही का भाई हो। अच्छा यदि समुद्र को उसका रख छोडना सहन न हुआ तो महादेवजी ही उसे कालकूटवत् पी जाते। पर उस विषम विप को तो वे पी गये और इसे छोड दिया ! सो उन्होंने भी मुझ अभागिनी की सहायता न की। वे तो सर्वसमर्थ हैं। चाहते तो चद्रमा को भी गले के भीतर रख लेना उनके लिए कोई बडी बात न थी।

एक बात बडे आश्चर्य की है। समुद्र से निकले हुए काले रग के कालकूट विप को अकेले महादेव जी ही ने पी लिया था। सो उन्हीं एक के पी लेने से वह समूल नष्ट हो गया। अब वह कहीं देखने को नहीं मिलता। उसका अस्तित्व ही लोप हो गया। पर वहीं उसी समुद्र से निकले हुए इस सफेद रग के विप (चद्रमा) को देख। बार-बार उसे पीकर देवता उसका क्षय कर देते हैं और बार-बार वह फिर फिर से उदय

हो आता है। उसका नाश ही नहीं होता। क्यों, यह अचभे की बात है या नहीं ?

पोडश कलाओं से पूर्ण पूरा चद्रमा तो महापापी है, क्योंकि वह विरहियों के समुदाय का सदा ही वध किया करता है। वधिक पापात्मा न गिना जायगा तो कौन गिना जायगा ? पर देवताओं के द्वारा अमृत पी लिये जाने पर क्षीण हुआ चद्रमा कदापि पापी नहीं माना जा सकता। क्योंकि वधिक कार्य्य पौर्णमासी ही चद्रमा के द्वारा होता है, और किसी तिथि के क्षीण चद्रमा द्वारा नहीं। क्यो, बात ठीक है न ? परतु ग्रहज्ञानी ज्योतिषियों की मूर्खता को तो देख ! वे उलटी ही हाँकते हैं। वे कहते हैं, पूर्णचद्र शुभग्रह है और क्षीण चद्र पापग्रह ! कैसी दिल्लगी है।

क्यों सखी क्या तू जानती है कि कृष्णपक्ष का नाम बहुल क्यों है ? कारण यह है कि विरहीजन इस पक्ष का बहुत आदर करते हैं। यह पक्ष उनके बहुल सम्मान का पात्र है। इसी से इसका यह नाम पडा। अच्छा, अमा (अर्थात् अमावस्या) को यह नाम क्यों मिला ? इसलिए कि उस रात को (चद्रमा का सर्वथा अभाव होने के कारण विरहियो ने अपनी अमा (अमित न मापी जाने योग्य) श्रद्धा का पात्र समझा है। बहुत आदर का पात्र होने के कारण कृष्णपक्ष को बहुल का और अमित आदर सत्कार का पात्र होने के कारण अमावस्या को

श्रमा का खिताब विरही जनों ही का दिया हुआ है । क्यों मेरा यह कथन ठीक है न ?

आजतक राहु ने सैकडों, हजारों दफे पकड पकड कर चद्रमा को अपने मुँह में रक्खा होगा। पर समझ मे नहीं आता वह, हर दफे उसे छोड क्यों देता है। दही में सने हुए मीठे मीठे सत्तुओं के गोले को मुँह मे रखकर भी भला कोई छोड सकता है। चद्रमा ठीक ऐसे ही गोले के समान है । हाँ, एक वात हो सकती है। वहुत सभव है, राहु को अपने शत्रु चक्रपाणि के गोले गोले चक्र का धोखा हो जाता होगा। इसमें चद्रमा को लील कर भी वह छोड देता है। उसे डर लगता होगा कि कहीं ऐसा न हो जो यह फिर मेरा कठ काट डाले। दोनों का सादृश्य ही इसका कारण जान पडता है—चद्रमा भी गोल और सफेद, सुदर्शन-चक्र भी गोल और सफेद। नहीं नहीं मेरा यह अनुमान ठीक नहीं। मुख के भीतर चद्रमा को पाकर भी राहु उसे अपनी इच्छा से कदापि न छोडता होगा। यह चद्रमा ही उसके गले की राह निकल भागता होगा। क्योंकि गले के नीचे का भाग तो राहु के है नहीं, वह तो केवल शीश मात्र है । राहु के यदि पेट और आमाशय होता तो वह चद्रमा को उनके भीतर पहुँचा कर उसे जरूर हजम कर जाता।

इन पुराने पौराणिकों के भोलेपन की हद नहीं। ये तत्त्व-दर्शी नहीं। किसी वात की तह तक पहुँचते ही नहीं। इनकी

बुद्धि सदा ऊपर ही ऊपर चक्कर काटा करती है, भीतर धँसना जानती नहीं। इसी से यह लोग विष्णु को राहु का सिर काटने-वाला कहते हैं। यह और कुछ नहीं, इनके बुद्धिमांद्य का प्रखर परिणाम है। उन्हें चाहिये था कि ये भगवान् मधुसूदन को लाखों विरहिणी नारियों का सिर काट लेनेवाला कहते। क्योंकि अकेले एक राहु का क़त्ल करके—उसके सिर को धड़ से जुदा करके—अनेकानेक अबलाओं का बध साधन करने का द्वार मधुसूदन ही ने खोल रक्खा है। राहु का सिर वे यदि न काट डालते तो वह चद्रमा को लीलकर कबका उसे पचा गया होता। परतु शीर्ष मात्र रह जाने से वह चद्रमा को नहीं पचा सकता। वह उसे खा तो जाता है, पर हर एक दफे वह उसके गले के नीचे से निकल भागता है और वियोगिनी वनिताओं की हत्या करने के व्यापार में फिर पूर्ववत् लग जाता है। सो इस सारी हत्या का पातक विष्णु ही के सिर पड़ता है। इसी से उन्हें राहु का सिर काटनेवाला न कहकर वियोग विधुरा-वधुओं ही का सिर काटनेवाला कहना चाहिए। राहु के यदि जठराग्नि होती तो क्या आज तक यह चाडाल चद्र बच भी जाता और क्या वियोगिनी नारियाँ इस तरह बे मौत मारी जातीं।

पुराने जमाने की बात कहती हूँ। बात निराधार नहीं। वेद में भी उसका उल्लेख है। एक दफे महादेव जी ने मखरूपी मृग का सिर उड़ा दिया। यह बात देवताओं के सर्जन जनरल

अश्विनीकुमार को बरदाश्त न हुई। उन्होंने कहा—मैं ठहरा मन्मथ महाराज का मित्र और शिव जी ठहरे उनके शत्रु। अपने मित्र के शत्रु के काम में विघ्न डालना मित्र का परम कर्तव्य है, यह बात राजनीति तक में लिखी है। यही सोचकर अश्विनीकुमार ने उस मृग के सिर को धड़ से जोड़ कर फिर उसे जिला दिया। महादेव जी अपना सा मुँह लेकर रह गये। सखी, तलाश तो कर। क्या वैसा सर्जन अब भी कहीं मिल सकता है? मिले तो उसे बुला ला और राहु के सिर को उसके कबंध (केतु) के गले पर रखवा कर फिर उसे पूर्ववत् करा दे।

यदि यह न हो सकता हो तो एक योजना और भी तो है। युद्ध में राजा नल जब अपने शत्रु का सिर काट देता है तब उसके निःशीश कबंध इस डर से ऊपर को उछलते—ऊपर को उड़ते—हैं कि वहाँ शायद मौत से बच जायँ। उसी समय राहु ही क्यों न दौड़ कर एक आध ऐसे कबंध के गले से चिपक जाय और ताजे बहते हुए रुधिर को चूने के प्लास्टर के सदृश, दर्ज में लगाकर उसे दृढ़ कर दे। यह भी न सही, एक युक्ति और भी हो सकती है जरा नाम राक्षसी को तू जानती होगा। वही जरा जिसने मगध नरेश शिशुपाल के शरीर के दो टुकड़ों को जोड़कर एक कर दिया था। जरा उसी जरा के पास चली जा और पूछ कि तू केतु के कबंध और राहु के सिर को भी,

शिशुपाल के शरीर के दो टुकड़ों की तरह क्यों नहीं जोड़ देती ? उस से कह—"जोड दे। तुझे बड़ा पुण्य होगा।"

अच्छा सखी, मेरी तरफ़ से राहु से यह तो पूछ कि तू चद्रमा को निगल कर छोड़ क्यों देता है। क्या तू उसे द्विजराज (ब्राह्मण भी द्विजराज कहाता है और चद्रमा भी) समझ कर जाने देता है ? क्या यह रियायत उसके द्विजराजत्व के कारण है ? यदि यही बात हो तो यह तेरी सरासर भूल है। यदि वह द्विजराज होता तो वारुणी (मदिरा भी वारुणी कहाती है और वरुण की दिशा—पश्चिम दिशा—भी) का सेवन करके, पतित होने पर भी, फिर क्यों दिवलोक (स्वर्ग तथा आकाश) में दिखाई देता ? वारुणीसेवी पतित द्विजराज को क्या कभी दिवलोक की भी प्राप्ति हो सकती है ? अतएव यह चद्रमा कदापि द्विजराज नहीं, कुछ और ही है। इसे निगल जाने में तुझे कुछ भी सकोच न करना चाहिए।

अथवा, राहुजी, मैं ही तुमसे एक बात पूछती हूँ। पर पहले तुम्हे एक पुराने आख्यान की बात याद दिला देना चाहती हूँ। एक दिन की बात है कि गरुड़ जी के माँ बाप के घर, उनके स्वाभाविक खाद्य की सामग्री कुछ भी न रह गई और माँ-बाप बच्चों को भूखा देख सकते नहीं। इस कारण गरुड़ के बाप ने कहा—"बेटा गरुड, जा म्लेच्छों ही का भोग लगा।" बस, फिर क्या था जो आज्ञा, कहकर लगे गरुड़ म्लेच्छों को खाने।

दैवयोग से एक भ्रष्ट द्विज भी उन म्लेच्छों में सम्मिलित हो गया था। बस जहाँ गरुड ने उसे मुँह में रक्खा तहाँ रखने के साथ ही उनके गले में आग सी लग गई। तब तत्काल ही उन्होंने उस द्विज को उगल दिया। सो, निगले जाने पर, सभव है, यह चद्रमा तेरे गले मे दाह पैदा करता हो और तू इसे द्विजराज समझकर, गरुड ही की तरह, उगल देता हो। यदि ऐसा होता हो तो इस दाह का कारण चद्रमा की द्विजराजता नहीं। इसका कारण तो इसका स्वभाव है। लाल मिर्च क्यों कडवी होती है। बात यह है कि कडवापन उसका स्वभाव है। इसी तरह दूसरों को व्यर्थ ही जलाना चद्रमा का भी स्वभाव है। देख न, मैं अबला हूँ और निरपराध हूँ। फिर भी वह मुझे जलाता है। अतएव द्विजराजता की शका दूर करके तुझे इसको नि शक खा जाना चाहिए।

अच्छा मैं तुझे बता दूँ कि चद्रमा का नाम द्विजराज क्यों है। यह सारी कृपा ब्रह्माजी की है। उनको छोड कर और किसे ऐसी बातें सूझ सकती हैं? तू जानता ही है कि रुचि बदलने के लिए लोक में कभी-कभी चबेने की—दालमोट की—भी जरूरत होती है। यमराज ने ब्रह्माजी से चबेनी की योजना कर देने के लिए दरख्वास्त की तो वे बड़े सोच में पड गये। बड़ी देर तक सोचने के बाद उन्होंने कहा—अच्छा, विरहिणी गण का चर्व्वण करके ही तुम चबेने की साध पूरी कर लिया करो। इस पर यमराज ने

प्रार्थना की कि महाराज मेरे मुँह में दाँत नहीं रह गये । मुझे दाँत भी मिलें। तब ब्रह्मदेव ने षोडश कलाधारी चद्रमा की एक एक कला को एक एक डाढ का काम सौंप कर उसे द्विजराज बना दिया । इस प्रकार सोलह डाढों के स्वामी इस द्विजराज की सहायता से यमराज देवता विरहिणी बालाओं का चर्वण किया करते हैं । इसी से यह चद्रमा द्विजराज हुआ है। समझे ? (सस्कृत भाषा में द्विजशब्द दाँत, विप्र और विहंग—इन तीनों अर्थों मे आता है।)

सखी, मैं अब थक गई। कहाँ तक इस चाडाल चद्र की क्रूरता का वर्णन करूँ। बस एक बात और । इसमें जो कालिमा देख पडती है यह क्या है ? इस सबध में मुझे तो दो कल्पनायें सूझती हैं । पहली यह कि यह चद्रमा बहुत करके झखकेतन का झुलसा हुआ मुँह है । जब महादेवजी के कोपानल में वह जलने लगा तब, जान पडता है, ब्रह्मा ने कृपा करके उसे अधजला ही निकाल लिया। इसी से जो अश उसका जल गया है वह काला पड गया है और उसी को लोग शश या कलक कहते हैं दूसरी कल्पना यह कहती है कि चद्रमा के ये दाग बहुत करके पाप की कालिमा होंगे । क्योंकि इसने आज तक असख्य स्त्रियों का वध किया है । अतएव, यह कालिमा पापजात कालिमा भी हो सकती है।

अखबार

[श्री बालमुकुंद गुप्त]



हिंदी के अखबारों के विषय में कुछ विशेष आलोचना करने का विचार जी में आने से पहले ही उर्दू अखबारों की ओर दृष्टि जाती है क्योंकि उर्दू के अखबार हिंदी से पहले जारी हुए हैं और उन्होंने हिंदी अखबारों से पहले तरक्की के मैदान में क़दम आगे बढाया है। ऊपर से देखिये तो उर्दू और हिंदी में इस समय अनबन है। उर्दू के तरफदार हिंदी वालों को और हिंदी के पक्षवाले उर्दू वालों को कुछ कुछ टेढी दृष्टि से देखते हैं, पर वास्तव में हिंदी उर्दू का बडा मेल है। यहाँ तक कि दोनों एक ही वस्तु कहलाने के योग्य हैं, केवल फारसी जामा पहनने से एक उर्दू कहलाती है और देवनागरी वस्त्र धारण करने से दूसरी हिंदी।

अँगरेजी सरकार ने अपना अमल भारत में जमाकर भारत की भाषा का ईरानी लिबास पसंद किया। उसी लिबास से भारत की भाषा अँगरेजी अदालतों में पहुंची। पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश की अदालती भाषा उर्दू ठहरी। अदालती भाषा होने से पहले ही उर्दू पर अँगरेजों की दृष्टि पड चुकी थी।

इस बात को आज सौ साल से अधिक हो गये। उस समय उर्दू में गद्य पुस्तक लिखने का ढँग जारी हो गया था। उर्दू गद्य की सब से पहली पुस्तक स० १८५५ वि० में बनी। मीर अम्मन की प्रसिद्ध 'बागो बहार' नाम की पोथी स० १८५६ वि० में बनी। उसके एक ही साल पीछे लल्लूलाल जी का प्रेम सागर बन गया। सरकारी दफ्तर स० १८६८ वि० में उर्दू होने आरम्भ हुए थे। स० १८६३ में अखबारों को स्वाधीनता मिली।

स० १८६० में उर्दू का पहला अखबार दिल्ली में जारी हुआ उसका नाम मालूम नहीं क्या था। लाहौर के गवर्नमेंट कालिज के अरबी भाषा के प्रोफेसर मौलवी मुहम्मद हुसेन आजाद दिल्ली निवासी ने अपनी "आबेहयात" नाम की पोथी में केवल इतना लिखा है कि उर्दू का पहला अखबार दिल्ली से मेरे पिता के क़लम से निकला। जान पडता है कि उक्त अखबार बहुत दिन तक नहीं चला इसी से प्रोफेसर आजाद ने उसका कुछ विशेष उल्लेख नहीं किया वह अखबार अब तक जारी रहता तो ६७ साल का होता। उसके बाद कोई और उर्दू अखबार निकला या नहीं कुछ पता नहीं।

उक्त पत्र में राजनीति, समाजनीति, आदि के अनेक लेख नहीं निकलते थे जैसे कि आज कल के समाचार पत्रों में निकलते हैं। उर्दू के विद्वान् और कवि लोगों के वादानुवाद और कविता

संबंधी बातें उसमे छपती थीं इतने पर भी बडे बड़े अँगरेज हाकिम उसे अस्सी अस्सी और अडतालिस अडतालिस रुपये वार्षिक देकर खरीदते थे। इसके पीछे फुलिस्केप आकार के १६ पृष्ठ पर आगरे से "मुफीदे खलायक" नामका एक अखबार निकाला। वह कई वर्ष तक जारी रहा। उसमे खबरें निकलती थीं, भारत के इतिहास के दो पृष्ठ उसमें निकलते थे। इसके सिवा उर्दू के कवियों की गजलें और दूसरी चीजें उसमें छपती थीं। इससे यह अखबार भी ठीक ठीक अखबार कहने के योग्य न था।

स० १९०७ में लाहौर से "कोहेनूर" नाम का एक साप्ताहिक उर्दू पत्र निकला। यह उर्दू का असली पत्र कहलाने योग्य हुआ। दस साल हुए काशी निवासी बाबू राधाकृष्णदास ने हिंदी अखबारों के विषय में एक छोटी सी पुस्तक लिखी थी। उसमे उन्होंने दिखाया है कि हिंदी में सब से पहले राजा शिवप्रसाद की सहायता से स० १९०२ वि० में "बनारस-अखबार" निकला, उक्त पत्र लीथो में रद्दी-से कागज पर छपता था। एक महाराष्ट्रीय सज्जन गोविंद रघुनाथ थत्ते उसके सपादक थे। उसका मोटो यह था—

सुबनारस अखबार यह, शिवप्रसाद आधार,
बुधि विवेक जन निपुनको, चितहित बारबार।
गिरजापति नगरी जहाँ, गग अमल जलधार,
नेत शुभाशुभ मुकुरको, लखो विचार विचार॥

उसकी भाषा का भी एक नमूना उक्त पोथी में दिखाया गया है। वह इस प्रकार है—

"यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब-बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है, अब वह मकान एक आलीशान बनने का निशान तैयार हरचेहार तरफ से होगया बल्कि इसके नकशे का बयान पहिले मुंदर्ज है सो परमेश्वर के दया से साहब बहादुर ने बड़ी तदेही मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है। देखकर लोग उस पाठशाला के किते के मकानों की खूबियाँ अकसर बयान करते हैं और उसके बनने के खर्च का तजवीज करते हैं कि जमा से जियादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के है सो सब दानाई साहब ममदूह की है, खर्च से दूना लगावट मे वह मालूम होता है।"

महाराज काशिराज के शिक्षा गुरु मुंशी शीतलसिंह साहब ने इसकी भाषा पर एक कता लिखकर दिल्लगी की थी। वह कता इस प्रकार है—

बनारस में इक जो बनारस गजट है।
इबारत सब उसकी अजब ऊट पट है॥
मुहर्रिर बिचारा तो है बासलीका।
वले क्या करै वह कि तहरीरे भट है॥

इस कते से यह पता नहीं लगता कि मुंशी साहब ने

"बनारस अखबार" की इबारत की किस लिए दिल्लगी की। उर्दू में दो एक शब्द संस्कृत के मिला देने के लिए की या विशुद्ध हिंदी न लिखने के लिए की अथवा।सपादक के लिंग-ज्ञान पर की। हमारी समझ में सपादक बहुत दोपी नहीं। एक तो वह दक्षिणी!थे दूसरे उस।समय तक हिंदी का कोई ऐसा नमूना मौजूद न था जिसके अनुसार वह लिखते और उनकी भाषा उर्दू न कहलाकर हिंदी कहलाने के योग्य होती।

यह ठीक है कि लल्लूलालजी क प्रेम सागर की भाषा उनके लिए आदर्श हो सकती थी। पर लल्लूजी के परिश्रम की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। उनकी भाषा उनकी पोथी ही में रह गई आगे और पोथियाँ लिखकर किसी ने उनकी चलायी हुई भाषा की उन्नति नहीं की। लल्लूजी ने उर्दू वालों के साथ साथ ही प्रेम-सागर लिखकर हिंदी में गद्य लिखने की रीति चलायी। दु ख की बात है कि उर्दू की उन्नति तो होती रही पर हिंदी की कुछ नहीं हुई। लल्लूजी के प्रेम-सागर की भाति दस पाच और पोथियाँ हिंदी में लिखी जातीं तो 'बनारस अखबार' को हिंदी लिखने का एक अच्छा मार्ग मिलता पर लल्लूजी के बाद कोई ६० साल तक उस ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। अत को स्वर्गीय बाबू हरिश्चन्द्र जी ने मरी हुई हिंदी को फिर से जिलाया।

जिस प्रकार गद्य लिखने की नींव आधुनिक हिंदी में उर्दू गद्य से दो एक साल ही पीछे पडी वैसे ही समाचार

पत्र की नींव भी दो चार साल बाद ही पड़ गई थी। पर दुःख यह है कि उसकी मजबूती की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। लाहौर से उर्दू का "कोहेनूर" स० १६०६ में निकला था उसी साल काशी से "सुधाकर" नामक हिंदी पत्र तारामोहन मित्र नामी एक बगाली सज्जन के द्वारा प्रकाशित हुआ। कोहेनूर बहुत दिन तक भली भाँति चला और अब तक भी इसका अस्तित्व एकदम मिट नहीं गया है पर सुधाकर बहुत दिन नहीं रहा। हाँ, एक यादगार उस पत्र की काशी मे बहुत भारी है जिसके द्वारा ज्योतिष और सस्कृत भाषा के सिवा हिंदी का बहुत कुछ उपकार हुआ और होता है। वह काशी के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद महा महोपाध्याय पडित सुधाकर द्विवेदी हैं। आपके चाचा जी के हाथ मे ज्योंही डाकिये ने सुधाकर पत्र का पहला नबर लाकर दिया त्यों ही घर के भीतर से उनको भतीजा होने की खबर मिली। आपने भतीजे का नाम उस पत्र के नाम पर सुधाकर रक्खा। सुधाकर पत्र की कोई सख्या हमने नहीं देखी और न उसकी भाषा का ही कुछ नमूना हमें मिला यदि मिलता तो अच्छा होता क्योंकि यह जानने की बात है कि लल्लू जी से एकदम ४८ साल बाद जो हिंदी लिखी गई वह किस ढँग की थी।

अत को स्वर्गीय बाबू हरिश्चद्र जी के समय में हिंदी के भाग्य ने पलटा खाया। उन्होंने हिंदी को उत्तम बनाने की

चेष्टा की। कई एक अच्छी अच्छी पोथियाँ लिख कर उन्होंने सुंदर हिंदी का एक नमूना खड़ा किया। फिर और लगातार कई पुस्तकें उन्होंने लिखकर उसको पुष्ट किया। यद्यपि स्वर्गीय राजा लक्ष्मणसिंह महोदय ने सं० १६२० वि० में शकुंतला का हिंदी अनुवाद करके फिर एक अच्छी हिंदी का नमूना उपस्थित किया था पर उसका उस समय अधिक प्रभाव नहीं हुआ। कहा जा सकता है कि हिंदी नहीं थी बाबू हरिश्चन्द्र ने उसे पैदा किया। यदि हिंदी होती तो राजा शिवप्रसाद नागरीअक्षरों के बड़े प्रेमी होकर उर्दू में क्यों उलझे रहते ?

हिंदी का एक उत्तम रूप खड़ा होते ही बाबू हरिश्चन्द्र जी को अखबार का ध्यान आया। इसीसे सं० १६२५ में उन्होंने कविवचन-सुधा मासिक पत्र के आकार में निकला। उसमें उस समय प्राचीन कवियों का काव्य प्रकाशित होता था। कवि देव का अष्टयाम, दीनदयालु-गिरि का अनुराग बाग, चन्द्र का रासा, मलिक मुहम्मद की पद्मावत, कबीर की साखी, बिहारी के दोहे, गिरिधरदास का नहुप नाटक, गुलिस्तां का अनुवाद आदि पुस्तकें उसमें छपने लगीं। संसार में सदा पद्य ही से अच्छी भाषाओं के गद्य साहित्य का जन्म होता है, उन्हें गद्य की सुध आगई उन्होंने देखा कि गद्य में भारत के सब प्रांत बढ़ रहे हैं केवल हिंदी वाले ही बेसुध हैं। इतना विचार आते ही उन्होंने कविवचन सुधा को पाक्षिक और फिर साप्ताहिक

किया, राजनीति, समाजनीति आदि पर लेख लिखने आरम्भ किये। उसका सिद्धात वाक्य यह था--

"खलगनन सों सज्जन दुखी मति होंहि, हरिपद मति रहै।
अपधर्म छूटे, स्वत्व निज भारत गहै, कर दुख वहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारिनर सम होंहिं, जग आनँद लहै।
तजि ग्राम कविता, सुकविजन की अमृत वानी सब कहै॥"

इस सिद्धात मे राजनीति, समाजनीति सब है। साथ साथ धर्म नीति भी है और उसमें बाबू हरिश्चन्द्र जी का जो कुछ मत था वह भी झलकता है। अर्थात् "हरिपद मति रहै" और "नारि नरसम होंहिं" का गगा-मदार का जोड़ा भी साथ है।

सरकार ने भी कवि-वचन-सुधा की सौ कापियाँ खरीदी थीं। जब उक्त पत्र पाक्षिक होकर राजनीति सबधी और दूसरे लेख स्वाधीन भाव से लिखने लगा तो बडा आदोलन मचा। यद्यपि हाकिमों में बाबू हरिश्चन्द्र की बडी प्रतिष्ठा थी, वह आनरेरी मजिस्ट्रेट किये गये थे। तथापि वह निडर होकर लिखते रहे, और सर्वसाधारण में उनके पत्र का आदर होने लगा। यद्यपि हिंदी भाषा के प्रेमी उस समय बहुत कम थे तो भी हरिश्चन्द्र के ललित लेखों ने लोगो के जी में ऐसी जगह कर ली थी कि कविवचन सुधा के हर नबर के लिए लोगों को टकटकी लगाये रहना पडता था। जो लोग राजनीतिक दृष्टि से उसे अपने विरुद्ध समझते थे वह भी प्रशसा करते थे। दुःख की

बात है कि बहुत जल्द कुछ चुगुलखोर लोगों की दृष्टि उस पर पडी । उन्होंने कविवचन-सुधा के कई एक लेखों को राजद्रोह पूरित बताया । दिल्लगी की बातों को भी वह लोग निंदा-सूचक बताने लगे । मरसिया नाम का एक लेख उक्त पत्र में छपा था यार लोगों ने छोटे लाट सर विलियम म्योर को समझाया कि यह आप ही की खबर ली गई है । सरकारी सहायता बद हो गयी । शिक्षाविभाग के डाइरेक्टर केम्पसन साहब ने बिगडकर एक चिट्ठी लिखी । हरिश्चद्र जी ने उत्तर देकर बहुत कुछ समझाया बुझाया पर यहाँ यार लोगों ने जो रग चढा दिया था वह न उतरा यहाँ तक कि बाबू हरिश्चद्र की चलाई हरिश्चद्र चद्रिका" और "बाल बोधिनी" नाम की दो मासिक पत्रिकाओं की सौ सौ कापियाँ प्रातीय गवर्नमेंट लेती थी वह भी बद की गयीं।

इन फिकरेबाज लोगों के दम मे हाकिम कभी कभी किस प्रकार आ जाते हैं इसकी एक उन्हीं दिनो की दिल्लगी सुनने के योग्य है। हमारे वर्तमान महाराज सप्तम एडवर्ड उस समय प्रिस आफ वेल्स थे और श्रीमान् ने (भारत में) पदार्पण किया था। राजभक्ति की तरगों से भारतवर्ष भारत महासागर की तरह तरगित था। कविवचन-सुधा ने श्रीमान् के स्वागत में "पाद्यार्घ्य" नामकी एक कविता लिखी थी। सब लोग जानते हैं कि पाद्यार्घ्य कितनी शिष्टता का बर्ताव है और हिंदुओं की कैसी पुरानी चाल है । तथापि यार लोगों ने हाकिमो को समझाया था कि उसका

अर्थ जूतियों से पीटना भी है। यार लोगों के ऐसे ही गुणों पर मोहित होकर गोस्वामी तुलसीदासजी अपने राम चरितमानस में इनकी बहुत कुछ बदना कर गये हैं।

हाकिमों का ऐसा हलका बर्ताव देखकर निर्भीक हरिश्चद्र ने आनरेरी मजिस्ट्रेटी का भार उसी दम अपनी गर्दन पर से उतार कर फेंक दिया और फिर हाकिमों से मिलने जुलने या उनकी दरबारदारी करने का नाम न लिया। इसके बाद कवि-वचन-सुधा का नाम सर्वसाधारण में खूब बढा। उसको बहुत से अच्छे लेखक मिले थे। उनमें से कई एक के नाम हमें मालूम हुए हैं। श्रीराधाचरण गोस्वामी, बाबू गदाधरसिंह, बाबू काशीनाथ खत्री, लाला श्रीनिवासदास, प० बिहारीलाल चौबे, प० सरयू-प्रसाद, बाबू तोताराम वर्मा, मुशी कमलाप्रसाद, प० दामोदर शास्त्री बाबू ऐश्वर्य्य नारायण सिंह, बाबा सुमेरसिंह, बाबा सतोष सिंह, बाबू गोकुल चद्र, बाबू नवीनचद्र राय। पत्र कुछ देर से निकलता था कारण कि उस समय, समय पर पत्र निकालने का अभ्यास लोगों को नहीं पडा था तथापि बाबू हरिश्चद्रजी ने समय पर निकालने के लिए उक्त पत्र प० चितामणि राव धढफले के हवाले कर दिया। पत्र समय पर निकलने लगा पर पीछे हरिश्चद्रजी ने लिखना छोड दिया इससे पत्र का प्राण निकल गया। इसके अतिम नबर हमने भी देखे हैं। सारहीन से होते थे। कुछ दिन व्यास रामशकर शर्म्मा भी इसके अवैतनिक

सपादक थे। स० १६४० में इसके अधःपतन का समय आ गया। लार्ड रिपन का जमाना था। इलबर्टबिल का आदोलन हुआ। राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद ने उसका विरोध करके स्वदेश वासियों की दृष्टि से अपने को गिराया था। कविवचन सुधा ने राजा शिवप्रसाद का साथ दिया इससे वह भी गिरा यहाँ तक कि स० १६४२ वि० मे वह पत्र बद हो गया। उसी साल बाबू हरिश्चद्र का देहात हुआ था। दूसरे हिंदी पत्रों ने बाबू साहब के शोक में महीनो तक काला बार्डर देकर लेख छापे पर इस पत्र ने अपने जन्मदाता के लिए एक कालम भी काला न किया।

आख्यायिका-विवेचन

[श्री श्यामसुंदर दास, बी ए]

आज कल ससार की प्राय सभी भाषाओं में कहानियों का प्रचार बहुत बढता जाता है । कुछ लोग बडे बडे उपन्यासों का आकार और पृष्ठ सख्या आदि देखकर घबरा जाते हैं और कुछ लोगों को, घबराहट न होने पर भी, इतना समय ही नहीं मिलता कि वह बडे बडे उपन्यास पढ सकें । ऐसे लोगों के सुभीते के लिए ही आख्यायिकाओं अथवा छोटी कहानियों का प्रचार हुआ है । ये कहानियाँ इतनी छोटी होती हैं कि किसी मासिक-पत्र के एक ही अक में, और और विषयों के साथ, कई कई आ जाती हैं । उपन्यासों और नाटकों की भाति इनसे भी अच्छी नैतिक शिक्षा मिल सकती है । यही कारण है कि आजकल ऐसी आख्यायिकाओं अथवा कहानियों का प्रचार बहुत बढता जाता है । इनका इतना बढता हुआ प्रचार, देखकर कुछ लोग तो यहाँ तक कहने लग गये हैं कि कुछ दिनों में उपन्यास रह ही न जायँगे और ये कहानियाँ ही उपन्यासों का स्थान लेलेंगी । पर हमारी समझ में यह आशका निर्मूल ही है, क्योंकि उपन्यास का काम कभी आख्यायिकाओं से निकल ही नहीं

सकता। आख्यायिका के छोटे क्षेत्र में जीवन की उतनी अधिक विवेचना हो ही नहीं सकती, जितनी उपन्यास में होती है। उसमें पात्रो के चरित्र का उतना अच्छा विकास और चित्रण भी नहीं हो सकता, जिसके लिए उपन्यासों का इतना महत्व और आदर है। हिंदी में बहुत बड़े बडे उपन्यासों का तो अभाव ही है, पर फिर भी हम कह सकते हैं कि परीक्षा गुरु अथवा प्रेमाश्रम आदि मे जीवन के जितने चित्र खींचे गए हैं, उतने चित्र क्या कई आख्यायिकाओं में भी नहीं आ सकते। जिस प्रकार ससार में मनुष्यों के व्यवहारों और कार्यों आदि का निरीक्षण करने में हमें बहुत अधिक समय लगता है, उसी प्रकार पुस्तकों में भी उनसे परिचित होने के लिए अधिक समय लगना आवश्यक और अनिवार्य है। छोटी कहानियों में उनके पात्रों का और हमारा बहुत ही थोडे समय के लिए साथ होता है और हमें उनके बहुत ही थोडे कार्यों और व्यवहारों आदि का परिचय मिलता है। हमारे चित्त पर उनके अध्ययन से जो प्रभाव पडता है, वह भी अपेक्षाकृत बहुत ही अल्प और थोडे महत्व का होता है। जब तक लोगों को सूक्ष्म से सूक्ष्म बात जानने की रुचि रहेगी, तब तक उपन्यासों का स्थान आख्यायिकाएँ नहीं ले सकेंगी। पर इस समय हम इस बात का विचार नहीं करने बैठे हैं कि उपन्यास और आख्यायिकाओं में से कौन श्रेष्ठ अथवा अधिक स्थायी है। हम तो उपन्यास की भांति आख्यायिका को भी

गद्य-काव्य का एक अग मानते हैं और इसी दृष्टि से उसका विवेचन करते हैं।

सब से पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि आख्यायिका कहते किसे हैं। आजकल जैसी कहानियों का प्रचार बढ रहा है, उसको देखकर हम कह सकते हैं कि आख्यायिका ऐसे गद्य कथानक को कहते हैं, जो घटे दो घटे के अदर ही पढकर समाप्त किया जा सके, अर्थात् ऐसी कहानी जो थोडे से अवकाश के समय एक ही बैठक में समाप्त हो सके। आख्यायिका कभी उपन्यास का सक्षिप्त रूप नही हो सकती, क्योंकि जो बातें किसी उपन्यास के सौ दो सौ पृष्ठों मे आ सकती हैं, वे दस वीस पृष्ठ की किसी आख्यायिका में नहीं आ सकतीं। प्राय सभी देशों में वृद्धा स्त्रियाँ सध्या समय घर में बैठकर बालकों को अनेक प्रकार की शिक्षाप्रद अथवा कुतूहलवर्धक कहानियाँ सुनाया करती हैं। आजकल की आख्यायिकाएँ भी एक प्रकार से उन्ही कहानियों का सशोधन और परिमार्जित रूप हैं। आजकल भी मासिक पत्रों आदि में अनेक ऐसी कहानियाँ निकला करती हैं, जो पुराने ढग की आख्यायिकाओं के वीच की होती हैं। आख्यायिकाओं के प्रचार के साथ ही साथ लोग यह समझने लगे हैं कि आख्यायिकाएँ लिखना भी एक कला है और उसके लिए भी किसी विशेष कौशल की आवश्यकता है। जिस प्रकार उपन्यासों और आख्यायिकाओं के विस्तार मे अतर है,

उसी प्रकार उनके उद्देश्य और वस्तु-विन्यास आदि में भी अंतर है।

आख्यायिका का विषय ऐसा होना चाहिए जिसका उसकी संकुचित सीमा के अंदर भली भांति विकास और निर्वाह हो सके। इस विषय में पाठकों की रुचि का सब से अधिक ध्यान रखना चाहिए। कोई आख्यायिका समाप्त करने के उपरांत पढ़ने-वाले की यह सम्मति होनी चाहिए कि यदि इस आख्यायिका का और अधिक विस्तार किया जाता, तो उससे कोई लाभ न होता। तात्पर्य यह कि किसी आख्यायिका से पाठकों के मन से यह भाव उत्पन्न हो जाना चाहिए कि जो कुछ कहा गया है, वह ठीक और पर्याप्त है, इसमें अनावश्यक बातें नहीं आने पाई हैं और इतने से ही आख्यायिका का उद्देश्य सिद्ध हो गया है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आख्यायिका में किसी एक ही अथवा क्षणिक घटना का ही उल्लेख हो। उसमें साहित्यिक रूप में जीवन के एक से अधिक अंगों के चित्र होने चाहिए और इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि आख्यायिका की सारी उत्तमता उसके कहने के ढँग पर निर्भर करती है। उसमें चरित्र अथवा अनुभव के किसी एक ही पक्ष का विचार अथवा प्रदर्शन हो सकता है, अथवा उतनी अधिक और व्यापक बातें भी बतलाई जा सकती हैं जितनी अनेक साधारण उपन्यासों में भी नहीं पाई जातीं। पर हाँ, यदि किसी छोटी सी आख्यायिका में

किसी व्यक्ति के सारे जीवन की सभी घटनाओं के भरने का उद्योग किया जायगा, तो वह पाठकों के लिए अरुचिकर होगा और पठित समाज मे उसका आदर न हो सकेगा। इसी लिए हमने कहा है कि आख्यायिका की उत्तमता उसके विषय तथा प्रतिपादन शैली पर ही निर्भर रहती है। दूसरी आवश्यक बात यह है कि उसके उद्देश्य, साधन और परिणाम आदि में सामजस्य होना चाहिए। आख्यायिका का उद्देश्य अथवा आधार-भूत सिद्धात एक ही होना चाहिए और आदि से अत तक उसी उद्देश्य या सिद्धात का ध्यान रखकर और उसी का युक्ति युक्त परिणाम उत्पन्न करने के विचार से आख्यायिका लिखी जानी चाहिए। उपन्यासों में इतनी अधिक बातें होती हैं कि उनसे कोई एक मुख्य सिद्धात या परिणाम निकालना प्राय कठिन हो जाता है। परतु आख्यायिका के सबध में यह बात नहीं होनी चाहिए। आख्यायिका में तो मुख्य विचार केवल एक ही, और वह भी बहुत ही प्रत्यक्ष या स्पष्ट होना चाहिए। बीच में कोई ऐसी बात नहीं आनी चाहिए जिससे पढने वाले का ध्यान उस मुख्य विचार से हट कर किसी दूसरी ओर चला जाय। यदि किसी आख्यायिका का उद्देश्य और परिणाम दोनों बिल्कुल एक ही हों तो समझ लेना चाहिए कि उसके लेखक को अच्छी सफलता हुई है।

पर आख्यायिका लिखने में उद्देश्य और परिणाम की यह

एकता प्रतिपादन करना ही सबसे कठिन काम है। इसी कठिनता का ध्यान रखते हुए कुछ विद्वानों ने यह सिद्धांत स्थिर किया है कि बड़े बड़े उपन्यासों की अपेक्षा छोटी छोटी आख्यायिकाएँ लिखना और भी अधिक कठिन काम है। उसमें अधिक कौशल की आवश्यकता है। एक विद्वान् का मत है—"कुशल लेखक बहुत अच्छी तरह विचार करके यह निश्चित करता है कि पाठकों के हृदय पर मेरी रचना का अमुक प्रभाव पड़े, और तब उसी प्रभाव या परिणाम पर ध्यान रखकर वह ऐसी घटनाओं की रचना करता है, जो अभीष्ट परिणाम उत्पन्न करने में सबसे अधिक सहायक होती हैं। यदि उसके प्रारंभिक वाक्य से ही उस परिणाम का आरंभ न हो, तो समझना चाहिए कि पहले ही ग्रास में मक्षिकापात हो गया। सारी रचना में एक भी ऐसा शब्द न होना चाहिए जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पाठकों को उस अभीष्ट परिणाम अथवा प्रभाव की ओर अग्रसर न करता हो। इतने ध्यान, इतने कौशल और इतने साधनों से अंत मे जो चित्र प्रस्तुत होता है, वही विचारशील और कलाकुशल प्रेक्षक को पूर्णरूप से संतुष्ट कर सकता है। बस यही कहानी का शुद्ध और स्वच्छ रूप है और यह रूप उपन्यास को प्राप्त नहीं हो सकता।" अच्छी आख्यायिकाएँ लिखने में इस परामर्श का बहुत कुछ उपयोग हो सकता है।

आख्यायिका में थोड़े से ही स्थान में कोई बड़ी बात

बतलानी पड़ती है, इसलिए उसकी रचना की सभी बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। उसमें सभी अनावश्यक और निरर्थक बातें छोड दी जाती है , इस बात का ध्यान रखा जाता है कि किसी बात का आवश्यकता से कम या अधिक विस्तार न हो , और उसके सभी भिन्न भिन्न खड या अग सारी आख्यायिका के अनुरूप और आधीन हों। उपन्यासों में तो रचना सबधी दोष कहीं कहीं छिप भी जाते हैं, पर आख्यायिका में वे बहुत ही स्पष्ट दिखाई देते हैं। आख्यायिका के सबध में यही साधारण सूचनाएँ हैं, जिनका ध्यान रखना उपयोगी हो सकता है। नहीं तो उसकी रचना के कोई निश्चित नियम नहीं बतलाए जा सकते। नियम आवें कहाँ से ? एक तो रचना-प्रणाली का सबध विषय और उद्देश्य से है , और दूसरे किसी कला मे सबध रखनेवाली छोटी छोटी बातें बतलाना या नियम निर्धारित करना बहुत ही कठिन होता है , क्योंकि कला सबधी छोटी छोटी बातों का ठीक ठीक अनुमान तो उसका पूरा स्वरूप देखकर ही किया जा सकता है।

इसी प्रकार यह बतलाना भी कठिन है कि किस उद्देश्य या लक्ष्य पर ध्यान रखकर आख्यायिका लिखी जानी चाहिए। यदि उसकी रचना से सबध रखनेवाली सभी बातों का ध्यान रखा जा सके, तो फिर प्रत्येक उद्देश्य और प्रत्येक साधन से आख्यायिका लिखी जा सकती है। उसके पाठकों को हँसाया भी जा

सकता है और रुलाया भी जा सकता है। उनको चकित भी किया जा सकता है और चक्कर में भी डाला जा सकता है। उनको मनोविज्ञान के भी कुछ सिद्धात बतलाए जा सकते हैं और प्रेम का प्रभाव या परिणाम भी दिखलाया जा सकता है। प्राचीनकाल का दृश्य भी उनके सामने रखा जा सकता है और भविष्यत् का चित्र भी अकित किया जा सकता है। कोई रोमाच कारिणी अथवा शिक्षाप्रद घटना भी चित्रित की जा सकती है और जीवन का कोई अश भी चित्रित किया जा सकता है। अपना कोई अनुभव भी बतलाया जा सकता है और देश अथवा समाज की अवस्था भी बतलाई जा सकती है। तात्पर्य यह है कि सैकडों हजारो विषयों पर, बल्कि यों कहना चाहिए कि प्रायः सभी विषयों पर, आख्यायिकाएँ लिखी जा सकती हैं। यदि आप चाहें तो पहले अपने मन में आख्यायिका की कोई वस्तु निर्धारित करलें और तब उसके अनुरूप चरित्र आदि लाकर उसमें आरोपित करें। अथवा आप कोई चरित्र चुनकर उसके अनुरूप वस्तु-विन्यास भी कर सकते हैं। अथवा यदि आपके मन में कोई विचार या सिद्धात उद्भूत हुआ हो, तो उसके अनुरूप वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण भी कर सकते हैं। आख्यायिका के सबध में यही सब बातें विशेप ध्यान देने योग्य हैं। उसकी शेष अन्यान्य बातें प्राय उपन्यास की अन्यान्य बातों से ही मिलती जुलती हैं।

अनुप्रास का अन्वेषण

[श्री जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी]



वर्षों व्यतीत हुए, मेरे आदरणीय अध्यापक श्रीयुत ललितकुमार वद्योपाध्याय, विद्यारत्न, एम० ए० महाशय ने कलकत्ता कालेज स्कायर के यूनिवर्सिटी इन्स्टीट्यूट में सध्या समय सभापति के स्थान पर सर गुरुदास बनर्जी को बिठा "अनुप्रासेर अट्टाहस" शीर्षक बगला प्रबध का पाठ किया था, जिसमें उन्होंने बगभाषा में व्यवहृत, प्रयुक्त और प्रचलित सस्कृत, अँग्रेजी, उर्दू, हिंदी और बँगला शब्द महावरे और कहावतें उद्धृत कर अनुप्रास का अधिकार बगला भाषा पर दिखाया था। प्रबध के पढे जाने पर बँगला बगवासी के सपादक बाबू बिहारीलाल सरकार बोले— "बाँगलाई कोबीतार भाषा। कारोन एते ओनेक ओनुप्रास आछे। ओतो अनुप्रास आर कोनो भाषाते नाई। ओनुप्रास कोबीतार ऐकटी गून।" अर्थात् बँगला ही कविता की भाषा है, क्योंकि इसमें जितना अनुप्रास है उतना और किसी भाषा में नहीं। अनुप्रास कविता का एक गुण है।

मुझे बूढ़े बिहारी बाबू की यह बात बहुत बुरी लगी। क्योंकि भारत के भाल की बिंदी इस हिंदी को ही मैं कविता की भाषा

जानता क्या था, अब तक जानता और मानता हूँ। मैंने सोचा क्या हिंदी भाषा में अनुप्रास का अभाव है ? यदि नहीं तो बँगला ही क्यों कविता की भाषा घोषित की जाय। यह सोच-विचार मैंने हिंदी में अनुप्रास का अन्वेषण आरंभ कर दिया। इस अनुसंधान में जो कुछ अपूर्व आविष्कार हुआ उसी को आज आप लोगों के आगे अर्पित करता हूँ।

संस्कृत साहित्य में अनुप्रास का अनुसंधान आवश्यक जानो, क्योंकि एक तो वह भारत की प्राय सभी भाषाओं की जननी है उसपर सब की समान श्रद्धा है। दूसरे, उसके स्तोत्र तक जब अनुप्रास से अधिकृत हैं, तब काव्यों की कथा ही क्या है निदर्शन के लिए निम्नलिखित स्तव ही पर्य्याप्त होगा।

"गांगवारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम,
त्रिपुरारिशिरश्चारि पापहारि पुनातु माम्।"

'पापापहारि दुरितारितरंगधारि,
शैलप्रचारि गिरिराजगुहाविदारि,
झंकारकारि हरिपादरजोपहारि,
गांग पुनातु सततं शुभकारिवारि।'

एक और सुनिए—

'नमस्तेऽस्तु गंगे त्वदंगप्रसंगात्,
भुजंगास्तुरंगा कुरंगा सवंगा,

अनगारि रगा' ससगा शिवागा,
भुजगाधिपागी कृतागा भवति।"

हिंदी साहित्य में भी मैंने पद्य की ओर प्रस्थान नहीं किया, क्योंकि मैं जानता हूँ कि वहाँ अनुप्रास का अड्डा अद्भुत रूप से जमा हुआ है। यथा—

चपक चमेलिन सों चमनि चमत्कार,
चमू चचरीक के चितौत चोरे चित हैं,
चाँदी को चबूतरा चहूँधा चमचम करे,
चदन सों गिरधरदास चरचित है,
चारु चाँद तारे को चँदोवा चारु चाँदनी सो,
चामीकर चोवन पै चचला चकित है,
चुन्निन की चौकी चढ़ी चद्रमुखी चूडामनि,
चाहन सों चैत करें चैन के चरित हैं॥

अन्य भाषा भाषी अपनी अपनी भाषा के दो चार शब्दों में अनुप्रास आता अवलोकन कर आनदित और गद्‌गद हो जाते हैं। पर यहाँ तो चारों चरणों में चकार की भरमार है। अफसोस है तो भी हम हिंदी की हिमायत न कर उर्दू-अंग्रेजी का ही आल्हा अलापते हैं। खैर।

इसलिए मैंने पद्य परित्याग कर गद्य की ओर ही गमन किया, और वहाँ राजा रईस, राजा रक, राव उमराव, सेठ-साहूकार, कवि-कोविद, ध्यानी-ज्ञानी, योगी-यती, साधु-सन्यासी से

लेकर नौकर-चाकर, तेली-तमोली, बनिया-बक्काल, कहार कलवार, मेहतर-चमार, कोरी-किसान और लुच्चे लफंगे तक की बात-चीत, गप-शप, बात-विचार, रहन-सहन, खान-पान, रफतार-गुफतार, चाल-चलन, चाल ढाल, मेल मुलाकात, रंग रूप, आकृति प्रकृति, जान पहिचान, हेल मेल, प्रेम-प्रीति, आव भाव, जात पाँत, रीति-रस्म, रस्म-रिवाज, रीति-नीति, पहिनावे-ओढावे, डील-डौल, ठाट-बाट, बोल-चाल, संग-साथ, संगत-सोहबत में अनुप्रास का अमल दखल पाया। मैंने अपनी ओर से न कुछ घटाया बढ़ाया, न काटा-छाँटा और न चुस्त-दुरुस्त ही किया। शब्दों को जिस सूरत शकल में पाया वहाँ से वैसे ही उठाकर ठिकाने से मौका महल देख रख भर दिया है।

अन्वेषण के पहिले अनुप्रास का नाम धाम आकार प्रकार, रंग ढंग और नामोनिशान जान लेना जरूरी है। अंग्रेजी के Alliteration and Assonance उर्दू फारसी का काफिया रदीफ और संस्कृत हिंदी का अनुप्रास नाम में दो होने पर भी काम में एकही हैं।

स्वर के बिना व्यंजन-वर्णों के साम्य को अनुप्रास कहते हैं। याने वाक्य और वाक्यांश में बारबार एक ही प्रकार के व्यंजन वर्णों के आने को अनुप्रास कहते हैं। इसके अनेक रूपरूपांतर हैं, पर प्रधान पाँचही हैं। जैसे—

(१) छेकानुप्रास—भोजन बिना भजन।

(२) वृत्यनुप्रास—हिंदी साहित्य-समेलन के सभापति का सु दर सिंहासन।

(३) श्रुत्यनुप्रास—खेल कूद, जगल-झाडी।

(४) अत्यानुप्रास—अत्र तत्र सर्वत्र है, भारतमित्र सुपत्र।

(५) लाटानुप्रास—शिक्षिता अबला अबला नहीं है।

अच्छा, अब असली हाल सुनिए। अनुसधान के अर्थ कमर कसते ही मुझे अपने इर्दगिर्द, अगलबगल, अडोसपडोस, टोलेमुहल्ले, घरबाहर, भीतरबाहर, आसपास, इधरउधर, नाते-रिश्ते, बधुबाँधव, भाईबद, भाईभतीजे, कुटुमकबीला, पुत्रकलत्र, बालबच्चे, लडकेबाले, जोरूजाते, चूल्हेचक्की, घरबार, अपनेबेगाने, मामाभानजे, भाईबिरादरी, खानदान, परिवार तमाम अनुप्रास ही अनुप्रास नजर आने लगा। इसका अनुमान नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण लीजिए। मेरा नाम जगन्नाथ प्रसाद, स्टेशन जमुई, ससुर जहा-गीरपुर निवासी, जौनमाने जसवतरायजी के जेठे बेटे जयती-प्रसाद जी, मामा जयकृष्ण लालजी और लडका यदुनदन है। मेरा आदि निवास मथुरा, मध्य मिरजापुर और वर्तमान मलयपुर जिला मगेर, प्रवास मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट (कलकत्ता), अल्लमई मिश्र हिस्सेदार मिर्जामलजी और चाचा मुरारीलाल तथा मथुराप्रसाद महोदय हैं। उपाधि चौबे चतुर्वेदी, काम चपडे का और उमर चालीस की है। गोत्र सौश्रव है। क़िस्साकोता, परिजन, पुरजन, अरिजन, स्वजन, मनकी मोह ममता और

माया-मोह छोड, मुँह मोड सजधज और बनठन कर अनुप्रास की तलाश में निकल पडा।

वाणिज्य व्यापार

चूँकि अपना धर्म-कर्म वाणिज्य व्यापार से चलता है, नौकरी चाकरी से कुछ लेना देना नहीं, बस जवानी-दीवानी के फंदे में फस मनमानी घरजानी करता, पहले बगालबैंक की बडा बाजार-ब्राच में जा पहुँचा, तो क्या देखता हूँ कि रोकड-जाकड हिसाब-किताब, खाते पत्तर, उचत-खाते, खर्चखाते, खैरातखाते, खुदराखर्च खाते, बट्टेखाते, व्याजबट्टे, लेन-देन, नकराई सकराई, मिती के भुगतान, खोखे, पैठ-परपैठ, देने पावने, नाम जमा, लेवाल-देवाल, लेवाल बेचवाल, साझे-सराकत, सौदा सुल्फ, तार वार, लेने बेचने, खरीद-बिक्री, खरीद-फरोख्त, बेचने खोचने, मोललेने, क्रय-विक्रय, मालटाल, मालजाल, मालमता, बिल्टी-बीजक, बाकी-बकाए, मत्थे पोते, जमीन-जायदाद, धन-दौलत, धन धान्य, अन्नधन, सौ के सवाए, नफे-मुनाफे, नफेनुकमान, आमदनी रफ्तनी, आगत-निर्गत, रूँकधोक, दर दाम, मोलतौल, बोहनी बट्टे, बाजार दर, देनदार, दूकानदार, सराफ, बजाज, मुनीमगुमास्ते और बसने के ब्राह्मणों की कौन कहे, दिवाले निकालने, टाट उलटने, बम बोलने, आफीशियल असायनी और इनसालवेंट अदालत तक में अनुप्रास का आसन जमा है। केवल यही नहीं — दल्लाल, नमूने, कामकाज, कारबार, कार व्योहार, कामधधे, खुशी के

सौदे, कलकारखाने, कल के कुली, जहाज की जेटी और बट्टे चट्टे में भी आप आ बैठे हैं।

बाजार चढे, चढे या घटे, गिरे या उठे, तेज हो या मदा, सुस्त या समान रहे, मारवाडी महाजन हो चाहे बगाली व्यापारी, व्योहरे बनिये हों चाहे ब्राह्मण, सभी अनुप्रास के चक्कर में हैं। उतमर्ण-अधमर्ण में, स्वदेशी शिल्प में, श्रमशिल्प मे, शिल्प सभा मे, श्रमजीवी समवाय मे, कृषि शिल्प प्रदर्शिनी में, वैश्यवृत्ति में, व्यवसायात्मिका बुद्धि में, विज्ञान वाणिज्य में, अर्थशास्त्र मे, कलाकौशल में, व्यापारे वसते लक्ष्मी, या "लक्ष्मीर्वसति वाणिज्ये" इस मूलमन्त्र में भी अनुप्रास आ गया है। अमानत में खयानत करो, धन गबन करो, बचत बचाकर 'नौ नगद न तेरह उधार' करो, कच्चे चिट्ठे को पक्का समझो या सफेद को स्याह करो, बक से बधक का बदोबस्त कर व्याज बढाओ, जूट-पाट का फाटका या सट्टा करो, पर अनुप्रास का अदर्शन न होगा।

साहित्य

अर्जन उपार्जन के उपरात साहित्य सेवा है। सस्कृत साहित्य की कौन कहे। राष्ट्र-भाषा हिंदी के साहित्य ससार में भी अनुप्रास की आँधी आ गई है। दिव्य दृष्टि से नही, चर्मचक्षुओ से ही चश्मा लगा आप देखेंगे कि कविकुल-कुमुद कलाधर, काव्य कानन-केसरी और कविता-कुज-कोकिल कालिदास भी काव्य कल्पना में अनुप्रास का आवाहन करते हैं। कहीं कहीं तो

कष्ट कल्पना से काव्य का कलेवर कलुषित हो जाता है। यह कपोल कल्पना नहीं, कवि-कोविदों का कहना है। खैर, वसीवट यमुना निकट, मोर मुकुट, पीतपट, कालिंदीकूल, राधा माधव, ब्रजवनिता, ललिता, विधुवदनी, कुँवर-कन्हैया नंदयशोदा, वसुदेवदेवकी, वृंदावन, गिरिगोवर्द्धन, ग्वाल-वाल, गो-गोप-गोपी, ताल-तमाल, रसाल-साल, लवंग-लता, विपिन-विहारी, नंद-नंदन, विरह व्यथा, वियोग व्यथा, संयोग-वियोग, मधुरमिलन, मदन महोत्सव और मलयानिल ही नहीं, झिल्लियों की झनकार, वारि वादर, घन गर्जन-वर्षण, दामिनी की दमक, चपला की चमक, वादर की गरज, शीतल गंध मंद मारुत, कुसुम कलिका, मदनमंजरी, वीर बहूटी, चोआ चंदन, अतर अरगजा, तेल फुलेल, मेहदी महावर, सोलह शृंगार, मृगमद, राहुरद, कुमुद कमल कल्हार, स्थलकमल, सरसिज, सरोरुह, पद्मपत्र, एलालता, लज्जावती-लता, छुईमुई की पत्ती, कोयल की कुहुक, कूजित कुंजकुटीर, शशि, बसंती वायु, मलय मारुत, मधु मास, युवक युवती, नव यौवन, यामनी-यापन, रमणीरत्न, सुरतसागर, रससागर, दुःखदावानल, अधअनुराग, मुग्धा-मध्या, प्रोषित पतिका, वासकसज्जा, अधरा-विधवा-सधवा, चित्तचोर, मन मोहक, मदन मोहन, दिलदारयार, प्राणनाथ, प्राणप्रिय, मीनपयोधर, प्रेम-पात्र, प्रेम-पताका, प्राणदान, सुरतस्वप्न, आलिंगन-चुंबन, चूमाचाटी, पादपद्म, कृत्रिम-कोप, भ्रमंग,

भृकुटी-भगी, मानमर्दन, और मान भजन भी अनुप्रास के अधीन हैं।

कबुग्रीव, बाहुबल्ली, करकमल, पद्मपलास, लोचन, निविडनितब, पदपल्लव, गजगमन, हरिण नयन, केसरि कटि, गोल कपोल, गुलाबी गाल, कोमल कर, दाडिमदसन, और साफ सुथरी गोरी नारी की मधुर मुसकान में जैसे अनुप्रास का वास है वैसे ही कालीकलूटी, मैलीकुचैली, नाटी मोटी, खोटी छोटी, कर्कशा, कलहकारिणी कुलटा के विखरे बालों में भी है। तात्पर्य्य यह कि प्रेम में नेम नहीं। तकल्लुफ में सरासर तकलीफ है। प्रेम का पथ ही पृथक् है। निराला होने पर भी आला है। इसमें सुख दुख और जीवन मरण दोनों हैं। हँसा सो फँसा। इश्क हकीमी हो या मजाजी उसमें मार और प्यार दोनों हैं। भगत के बस में हैं भगवान। जो दिल जले हैं, उनका दिल भला कहीं क्यों लगने लगा। जो सदा सर्वदा मक्खियाँ मारा करते हैं, उनसे भला क्या होना जाना है। जिसका स्नेह सच्चा है, वह लाख आपत विपत होते भी सहीसलामत, मंजिले मकसूद को पहुँच जाता है। उसके लिए विघ्न बाधा, विपद बाधा कुछ है ही नहीं। यहाँ तक तो अनुप्रास आया। अब आगे राम मालिक है।

व्याकरण के वर्तमान-भूत भविष्यत् में, संज्ञा सर्वनाम में,

विशेष्य विशेषण में, सधि-समास मे, कर्ता-क्रिया-कारक में, कर्ता-कर्म करण में, अपादान-सप्रदान-अधिकरण मे, उद्देश्य-विधेय मे, कर्तरि-कर्मणि प्रयोग में, तत्पुरुष कर्मधारय, बहुव्रीहि, द्वद्व-द्विगु समासो, विभक्त-प्रत्यय में, प्रकृति प्रत्यय में, आसक्ति आकाक्षा में, सार्थक-निरर्थक शब्दों में, जाति-व्यक्ति और भाव वाचक सज्ञाओं मे जब अनुप्रास का निवास है तब सामयिक और साहित्य की सामग्री कागज कलम, कलम-पेंसिल, रूलपेंसिल हेंडलहोल्डर, स्याहीसोख, निबपिन, चाकूकेंची, एडीटर-कपोजीटर, प्रिंटर-पबलिशर, सपादक-मुद्रक-प्रकाशक, प्राप्त पत्र, प्रेषित पत्र, सपादकीय स्तभ, साहित्य-समाचार, तार-समाचार, तडित-समाचार, तार-तरग, विविध समाचार, मुफस्सिल समाचार, साहित्य समालोचना, क्रोडपत्र, वेल्युपेबल पार्सल और प्रेस सेंसर में भी अवश्य ही है।

भारतमित्र, अभ्युदय, प्रेमपुष्प, बगवासी, प्रताप, जयाजी-प्रताप, सज्जन कीर्ति सुधाकर, वीर भारत, पाटलिपुत्र, बिहारबधु, मिथिला मिहिर, सत्य समाचार, सत्यसनातन, चित्रमय जगत, सद्धर्म प्रचारक, अवधवासी, आनद, वेंकटेश्वर समाचार, दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रों मे, और सरस्वती, मर्यादा, नवनीति, जासूस, नवजीवन, शारदाविनोद, स्त्रीदर्पण, मनोरजन, वैष्णव-सर्वस्व, सुधानिधि, चतुर्वेदी चद्रिका, महामडल मेगजीन, ब्रह्मचारी, ललिता नामक मासिक पत्रों में अनुप्रास का अश है।

लेखकों में बाबू बालमुकुंद वर्मा, गंगाप्रसाद गुप्त, लाला भगवानदीन, व्रजराज ब्रहादुर बी० ए०, नरेंद्रनारायण, भास्कर भालेराव, हरिहर स्वरूप शास्त्री, तीर्थत्रय सकलनारायण शर्मा, अंविकाप्रसाद वाजपेयी, वासुदेव, बाबूराव विष्णु पराडकर, यशोदानंदन अखौरी, रामनारायण चतुर्वेदी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, विद्यावारिधि (ज्वालाप्रसाद मिश्र), नंदकुमारदेव शर्मा, गिरजाकुमार घोष, चंद्रधर गुलेरी, कृष्णकांत, मन्नन द्विवेदी गजपुरी, गोपालराम गहमरी, रामजीलाल, लज्जा राम, रुद्रदत्त, गौरीशंकर हीराचंद, राधाचरण, द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, रामावतार, रामरणविजयसिंह, अयोध्यासिंह उपाध्याय, देवकीनंदन, रायदेवीप्रसाद पूर्ण, भारतेंदु हरिश्चंद्र, अंविकादत्त व्यास, माधव मिश्र, श्रीनिवासदास, सदानंद मिश्र, तोताराम, लल्लूलाल, और लेखिकाओं में यशोदादेवी, राजमन्नीदेवी, कृष्णकला, कृष्णकुमारी, तोरन देवी, 'लली' रामेश्वरी नेहरू और हेमंत कुमारी चौधरानी अनुप्रास के अंतर्गत ही मिलीं।

द्विवेदी कृत 'कालिदास की निरंकुशता', मनसाराम लिखित निरंकुशता-निदर्शन, आत्माराम रचित अनस्थिरता, मौजीराम का विचारवैचित्र्य, शिवशंभु शर्मा के चिट्ठे, मस्तराम के मतव्य, मनसुखा का मनसूबा, गिटपिटानंद गोलमालकारी, कलकत्ते की साहित्यसवर्धिनी सभा, प्रयाग या फिरोजाबाद का भारती भवन, पाठकजी का पद्मकोट, सिंहजी का 'सतसई संहार', व्यासजी का

बिहारी विहार, प्रतापनारायणजी का सागीतशाकुतल, श्याम+ शुक+गणेश बिहारी मिश्रों का वधुविनोद, या कवि कीर्तन, तथा नवरत्न, मैथिलीशरण की भारत भारती, अयोध्यासिंह जी का प्रिय-प्रवास, तथा ठेठ हिंदी का ठाठ, अयोध्या नरेश का रस-कुसुमाकर, जोधपुरी मुरारिदानजी का यशवत यशोभूषण, और मेरा ससार-चक्र, तथा विचित्र विचरण, भी अनुप्रास आमेज हैं।

हिंदी साहित्य समेलन के सभापति होने के सवव ही माननीय मदनमोहन मालवीय, गोविंद नारायण मिश्र, बद्री नारायण चौधरी, महात्मा मुशीराम, और पडित श्रीधर पाठक तथा महामत्री पुरुषोत्तम दास टडन को भी अनुप्रास ने अछूता न छोडा।

धर्म

साहित्य-सेवा के बाद धर्म कर्म है। धर्मांध धर्म धुरधर, धर्म-धुरीण, धर्मावतार और सनातनधर्मावलम्बी बनकर पोथी-पुराण, श्रुति स्मृति, शास्त्र पुराण का पठन पाठन और श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो, प्रतिमापूजन प्रतिपादन, मूर्ति पूजा-मडन, और श्राद्ध-तर्पण का शका-समाधान करो, पाखडी पडों, पुरोहितों और पडितों के पैर पूजो, लकीर के फकीर बनो, सयम-नियम, तीर्थ व्रत-योग भोग, जप तप, याग-यज्ञ, ज्ञान ध्यान, स्नान-ध्यान-पूजा पाठ कर कर्मकाडी कहाओ। हव्य-कव्य-गव्य, पंचामृतपचगव्य, धूपदीप, चदन पुष्प, कुम कुम, गगाजल, तुलसीदल और ताम्बूल पूँगीफल से परमात्मा का पूजन अर्चन

करो, चाहे आर्यसमाजी हो बालविवाह, विधवा विवाह, बहु-विवाह, बेमेलविवाह का विरोध कर समाज सरकार, समाज-सुधार के साथ नियोगनिरूपण करो या खडन-मडन, शास्त्रार्थ, सध्या-वदन होम हवन कर मास पार्टी, घास पार्टी पैदा करो पर अनुप्रास सदा सर्वत्र अनुसरण करता है। केवल यही नहीं, प्रवृत्ति, निवृत्ति, स्वर्ग नरक, पाप पुण्य, अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष, मुक्ति-मोक्ष, लोक-परलोक, यम-यातना, साकार निराकार, निर्गुण सगुण, काशी करवट, दानपुण्य, जन्ममरण जन्ममृत्यु, विषय वासना, ब्रह्मविद्या, मुक्तिमार्ग, ज्ञान नेत्र, आगम निगम, वेद उपनिषद्, वेद-वेदाग-वेदात, ब्रह्मवैवर्त, श्रीमद्भगवतगीता, शास्त्र सिद्धि-विधि-निषेध और वेदविहित कर्मों मे भी अनुप्रास का आदर देखा।

आचार विचार, नेम-धर्म, नित्यनैमित्तिक क्रिया कर्म, ध्यान धारणा, स्तवस्तोत्र, यत्र मत्र-तत्र, ऋद्धि-सिद्धि, शुभ लाभ, भजन-पूजन, भगवचिंतन, प्रायश्चित्त पुरश्चरण, वृद्धि श्राद्ध, आद्य-श्राद्ध, सपिंडनश्राद्ध, पितृप्रेतकृत्य, पिंडप्रदान कपालक्रिया, जलाजलि, तिलाजलि, पितृपक्ष और गोग्रास में भी अनुप्रास का अनुभव किया।

दरस परस मज्जन पान करें, सत्सग या साधु समागम से दुस्पारावार ससार को अनित्य समझें, सासारिक सुखसंभोग में सारा समय समर्पित कर दें, मारवाडी सहायक समिति,

संस्थापित करें या श्री विशुद्धानद सरस्वती विद्यालय बनवावें; पर अनुप्रास से अलग नहीं हो सकते । झुनझुन् वाले का लछमन झूला, रामचद गोइनका का जनाना घाट, सोदपुर की पिंजरपोल, राय बहादुर बद्रीदास मुनीम का माणिकवल्ले वाला मदिर, मिरजापुर की गोवर्धन गोशाला, सहारनपुर का (मेरी) शारदा सदन, काँगडी का गुरुकुल, हिंदू विश्वविद्यालय, बाबा ज्ञानानद का शरीर और निगमागम मडली, व्याख्यान वाचस्पति महामंत्री दीनदयालु जी का श्री भारतधर्म-महामडल, प्रयाग की सेवा समिति और थूकापथी भी अनुप्रास के आश्रित ही हैं ।

हिंदुओं के परब्रह्म परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु, शिव, वरुण, कुबेर, जयविजय नामक दोनों द्वारपाल, सूर्यचद्र, ग्रहनक्षत्र, काली, कमला, शीतला, सरस्वती, महामाया, इद्राणी, शर्वाणी, रुद्राणी, कल्याणी, देव-दानव, देवी-देवताओं, नरीकिन्नरी अप्सराओं, गधर्वों और भूत-प्रेत पिशाचों ही मे नहीं, मुसल्मानों के पाक परवरदिगार अकबर, हजरत मुहम्मद, पैगबर, पाँच-पीर, हसन हुसेन, मक्के मदीने, कलाम अल्लाह, जामामसजिद, मोती मसजिद, मीना मसजिद, रोजा-रमजान, अलहम्दुलिल्लाह, और शीया सुन्नी में, ईसाइयों के ईसामसीह, वाइविल, मरियम, देवदूत और प्रभात प्रार्थना में, बौद्धों के बुद्धदेव, शाक्यसिंह, पद्मपाणि, प्रज्ञापारमिता, बौद्धविहार, और दलाई-लामा मे, सिक्खों के

नानक और गुरुगोविंद में और जैनियों के पार्श्वनाथ पहाड़ में, आर्यसमाजियों के स्वामी दयानद सरस्वती और सत्यार्थप्रकाश में, ब्रह्मसमाजियों के राजा राममोहन राय तथा वैष्णवों के वल्लभाचार्य में भी अनुप्रास है।

कुभ के मेले पर ओ० आर० आर० से हरिद्वार जा हर की पैरी के पुल के पास जगज्जननी जान्हवी के शीतल जल से पाप, ताप, त्रयताप का प्रच्छालन करो, त्रिवेणी तट पर माघ मेले में मु डन करा मकर नहाओ, सूर्यग्रहण के समय कुरुक्षेत्र मे या मलमास में राजगिरि जा स्नान दान करो, सक्राति के समय सागर सगम या गगा सागर का सफर करो, कार्तिक की पूर्णिमा पर हरिहर क्षेत्र जाकर गडकी में गोते लगाओ, बनारस के विश्वनाथ जी और वैजनाथ जी में वम वम वोलो या काशी के ककर शिवशकर समान जानो, कोट कागड़ा की नयना देवी के दर्शन करो या—'मन चगा तो कठौती मे गगा' के अनुसार शिक्षा ले घर पर ही अतिथि अभ्यागतों, साधु सन्यासियों की सेवा कर मेवा पाओ, चाहे व्यसनी व्यभिचारी विहारी, विलासी वावू वन कर विषय वासना के वशीभूत हो वाग वगीचे की वारहदरी मे चुपचाप सगी साथियों के साथ मिलजुल आमोदप्रमोद, ऐशोइसरत, ऐशोनिशात करो, शराब, कबाब और मास मछलियाँ उडाओ, होटलों में बोतलों के बिलों का टोटल दे चक पर चेक काटो, भाद-भिखारियों, दीनदुखियों

और लूले लँगडों को कानी कौडी न दे, महफिल में मुजरा सुन, रंडी भँडुवे और भाँड भगतिनो को इनाम एकराम दे सब स्वाहा कर डालो या शिखासूत्र परित्याग परमहस बनो या वल्लभ कुलियों को "तन, मन, धन अर्पण कर" समर्पण ले लो, पर अनुप्रास सदा साथ रहेगा।

धर्म की गहनगति मन के अनुकूल न हो, तो समाज सशोधन की ही ठहरे। पहले समाज शरीर का स्वरूप स्थिर करो—विवाह बधन, जातपाँत, छुआ छूत, चूल्हे चौके, पच-परमेश्वर और खानपान का ध्यान छोड एकमेक गड्डम गड्ड हो, पुरुषोत्तमपुरी की प्रथा प्रचलित करो, दादू दयाल और सुंदरदास की सच्ची सलाह सुनकर वाममार्ग से मुँह मोडो, पतित जातियों को शुद्ध कर पटेल-बिल के प्रचारक हो, नया नाता जोडो, स्त्रियों को शिक्षा और स्वतत्रता दे उनके शुभचिंतक बनो, या उन्हे निपट निरक्षर और निपढ बना पर्दे के पीछे रख कूपमडूक बनाओ, पर अनुप्रास पास ही रहेगा।

यहाँ तक तो अनुप्रास के अन्वेषण में कृतकार्य हुआ। आगे कौन कह सकता है कि क्या होगा। पर मैं पीछे पैर देने वाला नहीं। धैर्य्य धारण कर दिन दूने रात चौगुने साहस और उत्साह से हाट बाट, घर घाट, नदी-नाले, जगल झाडी, बन पर्वत की कौन कहे देश-विदेश और सात समुद्र पार जाकर द्वीप-द्वीपातरों में दिन दोपहर, दिनदहाडे, रातनिरात बेरोकटोक विचरण

करूँगा, और मौका मिलते ही अनुप्रास की खुशखबरी शुभ समाचार सब को सुनाऊँगा, अभी तो गृहस्थाश्रम ग्रहण कर दार-परिग्रह ही हुआ है। उसके सुख सभोग, सुखशाति, सतान-सुख, राग रग और दुःख दारिद्र, शोक-सताप, कलह-क्लेश, हर्ष विषाद तथा जजाल का जिक्र ही नहीं आया है। गृहस्थ को सभी भोग भोगने पडते हैं। यह देह का दड है लीलामय कीलीला अपरपार है, वह तिल को ताड और पर्वत को राई कर सकता है। भूतनाथ भगवान भवानीपति अलबेले भोलेनाथ का ही भारी भरोसा है कि वह भली भाँति भला करेंगे।

और लूले लँगडों को कानी कौडी न दे, महफिल में मुजरा सुन, रंडी भँडुवे और भाँड भगतिनों को इनाम एकराम दे सब स्वाहा कर डालो या शिखासूत्र परित्याग परमहंस बनो या वल्लभ कुलियों को "तन, मन, धन अर्पण कर" समर्पण ले लो, पर अनुप्रास सदा साथ रहेगा।

धर्म की गहनगति मन के अनुकूल न हो, तो समाज संशोधन की ही ठहरे। पहले समाज शरीर का स्वरूप स्थिर करो—विवाह बंधन, जातपाँत, छुआ छूत, चूल्हे चौके, पंच परमेश्वर और खानपान का ध्यान छोड एकामेक गड्डम गड्ड हो, पुरुषोत्तमपुरी की प्रथा प्रचलित करो, दादू दयाल और सुंदरदास की सच्ची सलाह सुनकर वाममार्ग से मुँह मोडो, पतित जातियों को शुद्ध कर पटेल-बिल के प्रचारक हो, नया नाता जोडो, स्त्रियों को शिक्षा और स्वतंत्रता दे उनके शुभचिंतक बनो, या उन्हें निपट निरक्षर और निपढ़ बना पर्दे के पीछे रख कूपमंडूक बनाओ, पर अनुप्रास पास ही रहेगा।

यहाँ तक तो अनुप्रास के अन्वेषण में कृतकार्य हुआ। आगे कौन कह सकता है कि क्या होगा। पर मैं पीछे पैर देने वाला नहीं। धैर्य धारण कर दिन दूने रात चौगुने साहस और उत्साह से हाट बाट, घर घाट, नदी नाले, जंगल झाडी, वन पर्वत की कौन कहे देश-विदेश और सात समुद्र पार जाकर द्वीप-द्वीपांतरों में दिन दोपहर, दिनदहाडे, रातनिरात चेरोकटोक विचरण

और लूले लँगड़ों को कानी कौड़ी न दे, महफिल में मुजरा सुन, रंडी भँडुवे और भाँड भगतिनों को इनाम एकराम दे सब स्वाहा कर डालो या शिखासूत्र परित्याग परमहंस बनो या वल्लभ कुलियों को "तन, मन, धन अर्पण कर" समर्पण ले लो, पर अनुप्रास सदा साथ रहेगा।

धर्म की गहनगति मन के अनुकूल न हो, तो समाज संशोधन की ही ठहरे। पहले समाज शरीर का स्वरूप स्थिर करो—विवाह बंधन, जातपाँत, छुआ छूत, चूल्हे चौके, पंच परमेश्वर और खानपान का ध्यान छोड़ एकामेक गड्डम गड्ड हो, पुरुषोत्तमपुरी की प्रथा प्रचलित करो, दादू दयाल और सुंदरदास की सच्ची सलाह सुनकर वाममार्ग से मुँह मोड़ो, पतित जातियों को शुद्ध कर पटैल-बिल के प्रचारक हो, नया नाता जोड़ो, स्त्रियों को शिक्षा और स्वतंत्रता दे उनके शुभचिंतक बनो, या उन्हें निपट निरक्षर और निपढ बना पर्दे के पीछे रख कूपमंडूक बनाओ, पर अनुप्रास पास ही रहेगा।

यहाँ तक तो अनुप्रास के अन्वेषण में कृतकार्य हुआ। आगे कौन कह सकता है कि क्या होगा। पर मैं पीछे पैर देने वाला नहीं। धैर्य्य धारण कर दिन दूने रात चौगुने साहस और उत्साह से हाट बाट, घर घाट, नदी नाले, जंगल झाड़ी, वन पर्वत की कौन कहे देश-विदेश और सात समुद्र पार जाकर द्वीप-द्वीपांतरों में दिन दोपहर, दिनदहाड़े, रातनिरात बेरोकटोक विचरण

जो आदमी किसी पर भारी बोझ देखकर, उसे छीनकर अपने सर पर ले ले, किसी की आग बुझाने के लिए कोसों दौड़ा चला जाय, उसे समझदार कौन कहेगा ? मतलब यह कि उसकी जात से लोगों को चाहे कितना ही फायदा पहुँचे, उसका अपना कोई फायदा न होता था । यहाँ तक कि वह रोटियों के लिए भी दूसरों का मोहताज था । दीवाना तो वह था, और उसका गम दूसरे खाते थे ।

(२)

आखिर लोगों ने जब बहुत धिक्कारा कि क्यों अपनी ज़िंदगी बरबाद कर रहे हो ? तुम दूसरों के लिए मरते हो, कोई तुम्हें भी पूछनेवाला है ? अगर एक दिन बीमार पड जाओ तो कोई चुल्लूभर पानी न देगा, जब तक दूसरों की खिदमत बजा लाते हो लोग खैरात समझ कर खाने को दे देते हैं, जिस दिन आ पडेगी कोई सीधे मुँह बात भी नहीं करेगा, तब जामिद की आँखें खुलीं । बरतन भाँडा कुछ था ही नहीं । एक दिन उठा और एक तरफ की राह ली । दो दिन के बाद शहर में जा पहुँचा । शहर बहुत बडा था । महल आसमान से बातें करने वाले, सडकें चौडी और साफ । बाजार गुलजार, मसजिदों और मंदिरों की तादाद अगर मकानों से ज्यादा न थी तो कम भी नहीं । देहात मे न कोई मसजिद थी, न कोई मंदिर । मुसलमान लोग एक चबूतरे पर नमाज पढ लेते थे । हिंदू एक

मज़हबी पागलपन

[श्री प्रेमचन्द]

(१)

दुनिया में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जो किसी के नौकर न होते हुए भी सबके नौकर होते हैं, जिन्हें अपना कुछ काम न होते हुए भी सर उठाने की फ़ुरसत नहीं मिलती। जामिद इसी श्रेणी के लोगों में था। बिल्कुल वे फिकर, न किसी से दोस्ती, न किसी से दुश्मनी। जो जरा हँसकर बोला, उसका वेदाम का ग़ुलाम हो गया। वेकाम का काम करने में उसे मजा आता था। गाँव में कोई बीमार पड़े, वह मरीज की सेवा-सुश्रुषा के लिए हाजिर है। कहिए तो आधीरात को हकीम के घर चला जाय, किसी जड़ी बूटी की तलाश में कोसों की धूल छान आवे। मुमकिन न था कि वह किसी गरीब पर जुल्म होते देखे और चुप रह जाय। फिर चाहे कोई उसे मार ही डाले सहायता करने से न चूकता था। ऐसी सैकड़ों बाधाएँ उसके सामने आचुकी थीं।

कास्टेबिलों से आए दिन छेड़ छाड़ होती ही रहती थी। इसलिए लोग उसे दीवाना समझते थे। और बात भी यही थी।

जो आदमी किसी पर भारी बोझ देखकर, उसे छीनकर अपने सर पर ले ले, किसी की आग बुझाने के लिए कोसो दौड़ा चला जाय, उसे समझदार कौन कहेगा ? मतलब यह कि उसकी ज़ात से लोगों को चाहे कितना ही फायदा पहुँचे, उसका अपना कोई फायदा न होता था । यहाँ तक कि वह रोटियों के लिए भी दूसरों का मोहताज था । दीवाना तो वह था, और उसका गम दूसरे खाते थे ।

(२)

आखिर लोगों ने जब बहुत धिक्कारा कि क्यों अपनी ज़िंदगी बरबाद कर रहे हो ? तुम दूसरों के लिए मरते हो, कोई तुम्हें भी पूछनेवाला है ? अगर एक दिन बीमार पड़ जाओ तो कोई चुल्लूभर पानी न देगा, जब तक दूसरों की खिदमत बजा लाते हो लोग खैरात समझ कर खाने को दे देते हैं, जिस दिन आ पडेगी कोई सीधे मुँह बात भी नहीं करेगा, तब जामिद की आँखें खुलीं। बरतन भाँडा कुछ था ही नहीं। एक दिन उठा और एक तरफ की राह ली । दो दिन के बाद शहर में जा पहुँचा। शहर बहुत बडा था । महल आसमान से बातें करने वाले, सड़कें चोडी और साफ। बाजार गुलजार, मसजिदों और मंदिरों की तादाद अगर मकानों से ज्यादा न थी तो कम भी नहीं । देहात में न कोई समजिद थी, न कोई मंदिर। मुसलमान लोग एक चबूतरे पर नमाज पढ़ लेते थे । हिंदू एक

पेड के नीचे पानी चढा दिया करते थे । शहर मे धर्म का यह राज्य देख कर जामिद को बहुत खुशी हुई । उसकी नजर में मजहब का जितना मूल्य था, उतना और किसी सासारिक वस्तु का नहीं। वह सोचने लगा, यह लोग ईमान के पक्के और कितने सत्यवादी हैं ! इनमे कितनी सहन-शीलता, कितनी दया, कितनी हमदर्दी होगी ! तभी तो खुदा ने इन्हें इतना माना है। वह हर आने-जाने वाले को विश्वास की नजर से देखता और उसके सामने सर झुकाता था ! यहाँ के सभी लोग उसे देवता के मानिंद जान पडते थे। घूमते घूमते शाम हो गई । वह थक कर एक मंदिर के चबूतरे पर जा बैठा । मदिर बहुत बड़ा था । ऊपर सुनहला कलश चमक रहा था । जगमोहन पर सगमरमर के चौक जडे हुए थे । मगर सहन में जगह जगह गोबर और कूडा पडा था । जामिद को गदगी से घृणा थी। मदिर की यह हालत देखकर उससे रहा न गया । इधर-उधर निगाह दौडाई कि कहीं झाडू मिल जाय तो साफ कर दूँ। मगर झाडू कहीं नजर न आयी । लाचार होकर उसने अपने दामन से चबूतरे को साफ करना शुरू कर दिया । जरा देर में भक्तों का जमाव होने लगा । उन्होंने जामिद को चबूतरा साफ करते देखा, तो आपस में बातें करने लगे '—

'है तो मुसलमान ।'

'मेहतर होगा ।'

'नहीं, मेहतर अपने दामन से सफाई नहीं करता। कोई पागल मालुम होता है।'

'उधर का जासूस न हो।'

'नहीं, चेहरे से तो बडा गरीब मालूम होता है।'

'हसन निजामी का कोई मुरीद होगा।'

'अजी, गोबर के लालच से सफाई कर रहा है। कोई भठियारा होगा। (जामिद से) गोबर मत ले जाना रे, समझा? कहाँ रहता है?'

परदेसी मुसाफिर हूँ, साहब! मुझे गोबर लेकर क्या करना है? ठाकुर जी का मंदिर देखा तो आकर बैठ गया। कूडा पडा हुआ था, मैंने सोचा, धर्मात्मा लोग आते होंगे। सफाई करने लगा।'

'तुम तो मुसलमान हो न?'

'ठाकुरजी तो सब के ठाकुरजी हैं, क्या हिंदू क्या मुसलमान।'

'तुम ठाकुर जी को मानते हो?'

'ठाकुर जी को कौन न मानेगा, साहब? जिसने पैदा किया उसे न मानूगा?'

भक्तों में सलाह होने लगी।

'दिहाती है।'

'फाँस लेना चाहिए। जाने न पावे।'

(३)

जामिद फाँस लिया गया। उसका आदर सत्कार होने

बुड्ढा—खुदावद मैं तो इसे बराबर टोकरे में रखता हूँ। आज गफलत हो गई। कहता हूँ, महाराज, मेरा अपराध क्षमा करो। मगर नहीं मानते है। हुजूर, मारते-मारते अधमरा कर दिया।

अभी नहीं मारा है, अब मारूँगा। खोदकर गाड दूँगा।

जामिद—खोदकर गाड दोगे, भाई साहब तो तुम भी यो ही न खडे रहोगे। समझ गये? अगर फिर हाथ उठाया तो अच्छा न होगा।

जवान को अपनी ताकत का नशा था। उसने फिर बुड्ढे को चाँटा लगाया। मगर चाँटा पडने के पहले ही जामिद ने उसकी गर्दन पकड ली। दोनों में कसम-कस होने लगी। जामिद भी अच्छा जवान था। नौजवान को एक ही बार में चारो खाने चित्त गिरा दिया। उसका गिरना था कि भक्तों का गिरोह, जो अब तक मदिर में बैठा तमाशा देख रहा था, झपट पडा। जामिद पर चारो ओर से चॉटे पडने लगे। जामिद की समझ में न आता था कि लोग मुझे क्यों मार रहे हैं। कोई कुछ भी नही पूछता। तिलकधारी जवान को कोई कुछ नहीं कहता। बस जो आता है मुझ ही पर हाथ साफ करता है। आखिर वह बेदम होकर गिर पडा। सब लोगों में बातें होने लगीं।

'दगा दे गया।'

'ऐसी तैसी तेरी जात की। इन म्लेच्छों से भलाई की आशा न रखनी चाहिए। कौवा कौवों के साथ मिलेगा। कमीना जब करेगा, कमीनापन। उसे कोई पूछता न था। मदिर मे झाड़ू लगा रहा था। बदन पर कपडे का तार भी न था। हमने उसकी इतनी इज्जत की। हैवान से इसान बना दिया। फिर भी अपना न हुआ।'

'इनके मजहब की तो बुनियाद यही है।'

जामिद रात भर सडक के किनारे पडा दर्द से कराहता रहा। उसे मार खाने का दुख न था। ऐमी तकलीफें वह कितनी ही बार सह चुका था। उसे दुख और आश्चर्य केवल इस बात का था कि इन लोगों ने क्यों एक दिन मेरी इज्जत की और क्यों आज बिना वजह अपमान किया। मैं तो वही हूँ। मैंने कोई कसूर भी नहीं किया। मैंने तो वही किया जो ऐसी हालत मे सब को करना चाहिए। फिर इन लोगों ने मुझपर क्यों इतना जुल्म किया? देवता क्यों राक्षस बन गए? वह रात भर इसी उलझन में पडा रहा। सुबह उठकर एक तरफ की राह ली।

(४)

जामिद अभी थोडी दूर ही गया था कि वही बुड्ढा उसे मिला। उसे देखते ही वह बोला, कसम खुदा की कल तुमने मेरी जान बचा दी। सुना जालिमों ने तुम्हें बुरी तरह से पीटा। मैं तो मौका पाते ही निकल भागा। अब तक तुम कहाँ थे?

यहाँ लोग रात से तुमसे मिलने के लिए बेकरार हो रहे हैं। काजी साहब रात ही तुम्हारी तलाश मे निकले थे। मगर तुम न मिले। कल हम दोनों अकेले पड गये थे। दुश्मनों ने हमें पीट लिया। नमाज का वक्त था। यहाँ सब लोग मसजिद मे थे। अगर जरा भी खबर हो जाती तो हजार लट्ठबाज पहुँच जाते। तब आटे दाल का भाव मालूम होता। कसम खुदा की, आज से मैंने तीन नई मुर्गियाँ पाली हैं। देखूँ पडित जी महाराज अब क्या करते हैं? कसम खुदा की, काजी साहब ने कहा है कि अगर लौंडा जरा भी आँखें दिखावे तो तुम मुझसे आकर कहना। या तो बचा घर छोड कर भागेंगे या हड्डी पसली तोड कर रख दी जावेगी।

जामिद को लिए हुए वह बुड्ढा काजी जोरावर खाँ के यहाँ पहुँचा।

काजी साहब वजू कर रहे थे। जामिद को देखते ही दौडकर गले लगा लिया और बोले 'वल्लाह' तुम्हे आँखें ढूँढ रही थीं। तुमने अकेले इतने काफिरों के दाँत खट्टे कर दिए। क्यो न हो, मोमिन का खून है। काफिरों की हकीकत क्या? सुना, सबके सब तुम्हारी शुद्धि करने जा रहे थे। मगर तुमने उनके सारे मसूबे पलट दिए। इस्लाम को ऐसे ही खादिमों (सेवकों) की जरूरत है। तुम जैसे दीनदारों से इस्लाम का नाम रोशन है। गलती यही हुई कि तुमने एक महीने भर तक सब

नहीं किया। शादी होजाने देते तब मजा आता। एक नाजनीन साथ लाते, और दौलत मुफ्त। खैर तुमने जल्दी कर दी।

दिन भर मुरीदों का ताँता लगा रहा। जामिद को एक नजर देखने का सबको शौक था। सभी उसकी हिम्मत, जोर और मजहबी जोश की तारीफ करते थे।

(५)

पहर रात गुजर चुकी थी। मुसाफिरों की आमद-रफ्त कम हो चली थी। जामिद ने काजी साहब से कुरान शरीफ पढना शुरू कर दिया था। उन्होंने उसके लिए अपने बगल का कमरा खाली कर दिया था। वह काजी साहब से सबक लेकर आया। सोने जा रहा था कि अचानक उसे दरवाजे पर एक ताँगे के रुकने की आवाज सुनाई दी। काजी साहब के मुरीद अक्सर आया करते थे। जामिद ने सोचा कोई मुरीद आया होगा। नीचे आया तो देखा कि एक औरत तांगे से उतर कर बरामदे में खडी है और तांगेवाला उसका असबाब उतार रहा है।

औरत ने मकान को इधर-उधर देखकर कहा, 'नहीं जी, मुझे अच्छी तरह ख्याल है उनका मकान यह नहीं है। शायद तुम भूल गए हो।'

तांगेवाला—'हुजूर तो मानती ही नहीं। कह दिया कि बाबू साहब ने मकान तबदील कर दिया है। ऊपर चलिए।'

यहाँ लोग रात से तुमसे मिलने के लिए बेक़रार हो रहे हैं। काजी साहब रात ही तुम्हारी तलाश में निकले थे। मगर तुम न मिले। कल हम दोनों अकेले पड़ गये थे। दुश्मनों ने हमें पीट लिया। नमाज का वक्त था। यहाँ सब लोग मसजिद में थे। अगर जरा भी खबर हो जाती तो हजार लट्ठबाज पहुँच जाते। तब आटे दाल का भाव मालूम होता। कसम खुदा की, आज से मैंने तीन नई मुर्गियाँ पाली हैं। देखूँ पंडित जी महाराज अब क्या करते हैं? कसम खुदा की, काजी साहब ने कहा है कि अगर लौंडा जरा भी आँखें दिखावे तो तुम मुझसे आकर कहना। या तो बच्चा घर छोड़ कर भागेंगे या हड्डी पसली तोड़ कर रख दी जावेगी।

जामिद को लिए हुए वह बुड्ढा काजी जोरावर खाँ के यहाँ पहुँचा।

काजी साहब वजू कर रहे थे। जामिद को देखते ही दौड़कर गले लगा लिया और बोले 'वल्लाह' तुम्हे आँखें ढूँढ रही थीं। तुमने अकेले इतने काफिरों के दाँत खट्टे कर दिए। क्यों न हो, मोमिन का खून है। काफिरों की हकीकत क्या? सुना, सबके सब तुम्हारी शुद्धि करने जा रहे थे। मगर तुमने उनके सारे मसूबे पलट दिए। इस्लाम को ऐसे ही खादिमों (सेवकों) की जरूरत है। तुम जैसे दीनदारों से इस्लाम का नाम रोशन है। गलती यही हुई कि तुमने एक महीने भर तक सन

नहीं किया। शादी होजाने देते तब मजा आता। एक नाजनीन साथ लाते, और दौलत मुफ्त। खैर तुमने जल्दी कर दी। —

दिन भर मुरीदों का ताँता लगा रहा। जामिद को एक नजर देखने का सबको शौक था। सभी उसकी हिम्मत, जोर और मजहबी जोश की तारीफ करते थे।

(५)

पहर रात गुजर चुकी थी। मुसाफिरों की आमद-रफ्त कम हो चली थी। जामिद ने काजी साहब से कुरान शरीफ पढना शुरू कर दिया था। उन्होंने उसके लिए अपने बगल का कमरा खाली कर दिया था। वह काजी साहब से सबक लेकर आया। सोने जा रहा था कि अचानक उसे दरवाजे पर एक ताँगे के रुकने की आवाज सुनाई दी। काजी साहब के मुरीद अक्सर आया करते थे। जामिद ने सोचा कोई मुरीद आया होगा। नीचे आया तो देखा कि एक औरत तागे से उतर कर बरामदे में खड़ी है और तागेवाला उसका असबाब उतार रहा है।

औरत ने मकान को इधर-उधर देखकर कहा, 'नहीं जी, मुझे अच्छी तरह ख्याल है उनका मकान यह नहीं है। शायद तुम भूल गए हो।'

तागेवाला—'हुजूर तो मानती ही नहीं। कह दिया कि बाबू साहब ने मकान तब्दील कर दिया है। ऊपर चलिए।'

यहाँ लोग रात से तुमसे मिलने के लिए बेक़रार हो रहे हैं। काजी साहब रात ही तुम्हारी तलाश में निकले थे। मगर तुम न मिले। कल हम दोनों अकेले पड गये थे। दुश्मनों ने हमें पीट लिया। नमाज का वक्त था। यहाँ सब लोग मसजिद में थे। अगर जरा भी खबर हो जाती तो हजार लट्ठबाज पहुँच जाते। तब आटे दाल का भाव मालूम होता। कसम खुदा की, आज से मैंने तीन नई मुर्गियाँ पाली हैं। देखूँ पंडित जी महाराज अब क्या करते हैं? कसम खुदा की, काजी साहब ने कहा है कि अगर लोंडा जरा भी आँखें दिखावे तो तुम मुझसे आकर कहना। या तो बच्चा घर छोड कर भागेंगे या हड्डी पसली तोड कर रख दी जावेगी।

जामिद को लिए हुए वह बुड्ढा काजी जोरावर खाँ के यहाँ पहुँचा।

काजी साहब वजू कर रहे थे। जामिद को देखते ही दौडकर गले लगा लिया और बोले 'वल्लाह' तुम्हे आँखें ढूँढ रही थीं। तुमने अकेले इतने काफिरों के दाँत खट्टे कर दिए। क्यों न हो, मोमिन का खून है! काफिरों की हकीकत क्या? सुना, सबके सब तुम्हारी शुद्धि करने जा रहे थे। मगर तुमने उनके सारे मसूबे पलट दिए। इस्लाम को ऐसे ही खादिमों (सेवकों) की जरूरत है। तुम जैसे दीनदारों से इस्लाम का नाम रोशन है। गलती यही हुई कि तुमने एक महीने भर तक सन

पकडे हुए थे। तांगेवाले ने दरवाजा बंद कर दिया। औरत ने तांगेवाले की तरफ खूनभरी आँखों से देखकर कहा, तू मुझे यहाँ क्यों लाया? काजी साहब ने तलवार चमका कर कहा, पहले आराम से बैठ जाओ। फिर सब मालूम हो जायगा।

औरत—तुम तो कोई मोलवी मालूम होते हो। क्या तुम्हे खुदा ने यही सिखाया है कि पराई बहू-बेटियों को जबरदस्ती घर में बंद करके उनकी आबरू बिगाडो?

काजी—हाँ, खुदा का यही हुक्म है कि काफिरों को जिस तरह मुमकिन हो इस्लाम के रास्ते पर लाया जाय। अगर खुशी से न आवें तो जब्र से।

औरत—इसी तरह अगर कोई तुम्हारी बहू बेटी को पकड कर बे आबरू करे तो?

काजी—हो ही रहा है। जैसा तुम हमारे साथ करोगे हम तुम्हारे साथ करेंगे। फिर हम तो बे-आबरू नहीं करते। सिर्फ अपने मजहब में शामिल करते हैं। इस्लाम कबूल करने से आबरू घटती नहीं बढती है। हिंदू कौम ने तो हमें मिटा देने का बीडा उठा रक्खा है। वह इस मुल्क से हमारा नामो निशान मिटा देना चाहती है। धोखे से, लालच से, जब्र से मुसल्मानों को बेदीन बनाया जा रहा है। तो क्या मुसलमान बैठे मुँह देखेंगे?

औरत—हिंदू कभी ऐसा जुल्म नहीं कर सकता। संभव है,

औरत ने झिझकते हुए कहा, 'बुलाते क्यों नहीं ? आवाज दो।'

तांगे०—ओ साहब, आवाज क्या दूँ। जब जानता हूँ कि बाबू साहब का यही मकान है तो नाहक चिल्लाने से क्या फायदा ? बेचारे आराम कर रहे होंगे। आराम में खलल पडेगा। आप बे-फिक्र रहिए। ऊपर चलिए।

औरत ऊपर चली। पीछे-पीछे तांगेवाला असबाब लिए हुए था। जामिद चुपचाप नीचे खडा रहा। यह भेद उसकी समझ में न आया। तांगेवाले की आवाज सुनते ही काजी साहब छत पर निकल आए। औरत को आते देखकर कमरे की खिडकियाँ चारों ओर से बंद करके दीवाल से लटकती हुई तलवार उतार ली और दरवाजे पर आकर खडे हो गये। औरत ने जीना तय करके ज्यों ही छत पर पैर रक्खा कि काजी को देखकर झिझकी। वह फौरन पीछे की तरफ मुडना चाहती थी कि काजी साहब ने लपक कर उसका हाथ पकड लिया और अपने कमरे में घसीट लाए। इसी बीच में तांगेवाला और जामिद भी ऊपर आ गए थे। जामिद यह हाल देखकर हैरान था। समस्या और भी कठिन हो गई थी। यह इल्म का समुद्र, यह इंसाफ का खजाना, यह ईमान का पुतला इस वक्त पराई औरत पर जुल्म कर रहा है। तांगेवाले के साथ वह भी काजी साहब के कमरे में चला गया। काजी साहब औरत के दोनों हाथ

पकड़े हुए थे। तांगेवाले ने दरवाजा बंद कर दिया। औरत ने तांगेवाले की तरफ खूनभरी आँखों से देखकर कहा, तू मुझे यहाँ क्यों लाया? काजी साहब ने तलवार चमका कर कहा, पहले आराम से बैठ जाओ। फिर सब मालूम हो जायगा।

औरत—तुम तो कोई मौलवी मालूम होते हो। क्या तुम्हें खुदा ने यही सिखाया है कि पराई बहू-बेटियों को जबरदस्ती घर में बंद करके उनकी आबरू बिगाड़ो?

काजी—हाँ, खुदा का यही हुक्म है कि काफिरों को जिस तरह मुमकिन हो इस्लाम के रास्ते पर लाया जाय। अगर खुशी से न आवें तो जब्र से।

औरत—इसी तरह अगर कोई तुम्हारी बहू बेटी को पकड़ कर बे आबरू करे तो?

काजी—हो ही रहा है। जैसा तुम हमारे साथ करोगे हम तुम्हारे साथ करेंगे। फिर हम तो बे-आबरू नहीं करते। सिर्फ अपने मजहब में शामिल करते हैं। इस्लाम कबूल करने से आबरू घटती नहीं बढ़ती है। हिंदू कौम ने तो हमें मिटा देने का बीड़ा उठा रक्खा है। वह इस मुल्क से हमारा नामो निशान मिटा देना चाहती है। धोखे से, लालच से, जब्र से मुसल्मानों को बेदीन बनाया जा रहा है। तो क्या मुसलमान बैठे मुँह देखेंगे?

औरत—हिंदू कभी ऐसा जुल्म नहीं कर सकता। सम्भव है,

तुम लोगों की शरारतों से तंग आकर नीचे दर्जे के लोग इस तरह बदला लेने लगे हों। मगर अभी तो कोई सच्चा हिंदू इसे पसंद नहीं करता।

काजी साहब ने कुछ सोच कर कहा—बेशक, पहले इस तरह की शरारतें मुसलमान गुंडे किया करते थे। मगर शरीफ लोग इन हरकतों को बुरा समझते थे। और अपने इमकान भर रोकने की कोशिश करते थे। तालीम और मजहब की तरक्की के साथ कुछ दिनों में यह गुंडापन जरूर गायब हो जाता। मगर अब तो सारी हिंदू कौम हमें निकालने पर तैयार बैठी हुई है। फिर हमारे लिए और रास्ता ही कौन सा है? हम कमजोर हैं, इसलिए हमें मजबूर होकर अपने को कायम रखने के लिए दगा और फरेब से काम लेना पडता है। मगर तुम इतना घबडाती क्यों हो? तुम्हें यहाँ किसी बात की तकलीफ न होगी। इस्लाम औरतों के हक का जितना लिहाज करता है उतना और कोई नहीं करता। और मुसलमान मर्द तो अपनी औरत पर जान देता है। मेरे यह नौजवान दोस्त (जामिद) तुम्हारे सामने खडे हैं। इन्हीं के साथ तुम्हारा निकाह कर दिया जायगा। बस, आराम के साथ जिंदगी के दिन बसर करना।

औरत—मैं तुम्हें और तुम्हारे मजहब को घृणा के योग्य समझती हूँ। तुम कुत्ते हो। इसके सिवा तुम्हारे लिए कोई दूसरा नाम नहीं। खैरियत इसी में है कि मुझे जाने दो, वरना मैं अभी

शोर मचा दूँगी और तुम्हारा सब मौलवीपन निकल जायगा।

काजी—अगर तुमने जबान खोली तो तुम्हें जान से हाथ धोना पडेगा। बस, इतना समझलो।

औरत—आबरू के सामने जान की कोई हकीकत नहीं तुम मेरी जान ले सकते हो, मगर आबरू नहीं ले सकते।

काजी—क्यों नाहक जिद करती हो ?

औरत ने दरवाजे के पास जाकर कहा, 'मैं कहती हूँ, दरवाजा खोल दो।'

जामिद अब तक चुपचाप खडा था। ज्योंही औरत दरवाजे की तरफ चली, और काजी ने उसका हाथ पकडकर खींचा, जामिद ने फौरन दरवाजा खोल दिया। और काजी साहब से बोला, 'इनको छोड दीजिए।'

काजी—क्या बकता है !

जामिद—कुछ नहीं। खैरियत इसी में है कि इनको छोड दीजिए।

लेकिन जब काजी साहब ने उस औरत का हाथ न छोडा और तांगेवाला भी उसे पकडने के लिए बढा, तो जामिद ने एक झटका देकर काजी को ढकेल दिया और उस औरत का हाथ पकडे हुए कमरे से बाहर निकल गया। तांगेवाला पीछे लपका। मगर जामिद ने उसे इतने जोर से धक्का दिया कि वह उलटे मुँह जा गिरा। एक पल में जामिद और औरत सडक पर थे।

जामिद—आपका घर किस मुहल्ले में है ?

औरत—दरियागंज में।

जामिद—चलिए मैं आपको पहुँचा आऊँ।

औरत—इससे बड़ी और क्या मेहरबानी होगी, आपने आज मेरी आबरू बचाली, वरना मैं कहीं की न रहती। मुझे अब मालूम हुआ कि अच्छे और बुरे सब जगह रहते हैं। मेरे पति का नाम पं० राजकुमार है।

उसी वक्त एक ताँगा सड़क पर आता दिखाई पड़ा। जामिद ने औरत को उस पर बिठा दिया और खुद बैठना ही चाहता था कि ऊपर से काजी साहब और तांगे वाला दोनों लाठियाँ लिए हुए उतरे। काजी साहब ने जामिद पर लट्ठ चलाया, और डंडा ताँगे की छत पर पड़ा। इतने में जामिद तांगे में आ बैठा और ताँगा चल दिया। दरियागंज में पं० राजकुमार का पता लगाने में कोई दिक्कत न हुई। जामिद ने ज्योंही आवाज दी वह घबड़ाये हुए बाहर निकल आए और औरत को देखकर बोले, 'तुम कहाँ रह गई थीं, इंदिरा ? मैंने तुम्हें स्टेशन पर कहीं न देखा। मुझे पहुँचने में जरा देर हो गई थी। तुम्हें इतनी देर कहाँ लगी ?'

इंदिरा ने घर के अंदर पैर रखते हुए कहा, 'बड़ी लंबी कथा है। जरा दम लेने दो तो बताऊँगी। बस इतना ही समझ लो कि अगर इस मुसलमान ने मेरी मदद न की होती तो आबरू

चली गई होती।' पंडितजी पूरी कथा सुनने के लिए और बेकरार हो उठे। इंदिरा के साथही वह भी घर में चले। मगर एकही मिनट में बाहर आकर जामिद से बोले, 'भाई साहब, शायद आप बनावट समझें, मगर मुझे आपकी शकल में इस वक्त अपने इष्टदेव के दर्शन हो रहे हैं। मेरी जबान में इतनी ताकत नहीं कि आपका शुक्रिया अदा कर सकूं। आइए बैठ जाइए।'

जामिद—'जी नहीं, आप मुझे इजाजत दीजिए।'

पंडितजी—'मैं आपकी इस नेकी का क्या बदला दे सकता हूँ?'

जामिद—'इसका बदला यही है कि इस शरारत का बदला किसी गरीब मुसलमान से न लीजिएगा। यही मेरी प्रार्थना है।'

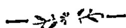
यह कहकर जामिद चल खड़ा हुआ और उस अँधेरी रात के सन्नाटे में शहर के बाहर निकल गया। उस शहर की अपवित्र हवा में साँस लेते हुए उसका दम घुटता था। वह जल्दी से जल्दी शहर से भागकर अपने गाँव में पहुँचना चाहता था, जहाँ धर्म का नाम सहानुभूति, दया, प्रेम और स्नेह था।

धर्म और धार्मिक लोगों से उसे घृणा हो गई थी।

———

बिहारी की बहुज्ञता

[श्री पद्मसिंह शर्मा]



कवि के विषय में किसी विद्वान् का कथन है कि "कवि प्रकृति का पुरोहित होता है"—जिस प्रकार पुरोहित के लिए यजमान के समस्त कुलाचारों और रीति रिवाजो का अंतरंग-ज्ञान आवश्यक है, इसी प्रकार कवि को भी प्रकृति के रहस्यों का मर्मज्ञ होना उचित है। इसके बिना कवि, कवि नहीं हो सकता। कवि ही प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा ऐसी बातें चुन सकता है जिन पर दूसरे मनुष्य की दृष्टि नहीं जाती, जाती भी है तो तत्व तक नहीं पहुँचती। तहतक पहुँचकर कोई ऐसी बात नहीं निकल सकती, जो साधारण प्रतीत होने पर भी असाधारण शिक्षाप्रद हो, लौकिक होने पर भी अलौकिक आनंदोत्पादक हो और सैकड़ो बार की देखी भाली होने पर भी नवीन चमत्कार दिखानेवाली हो। प्रकृति के छिपे और खुले भेदों को सर्वसाधारण के सामने मनोहर रूप में प्रकट करना ही कवि का काम है। "अज्ञेयमीमाँसा" करने बैठना, आकाश के तारे तोड़ने दौड़ना, कवि का काम नहीं है। कभी कभी कवि को ऐसा भी करना पड़ता है सही, पर वह मुख्य दार्शनिकों का काम है। कवि का

काम इससे भी बड़ा गहन है केवल व्याकरण और छंद शास्त्र के नियमों से अभिज्ञ होकर वर्णमात्रा के काटे में नपी तुली पद्य-रचना का नाम कवित्व नहीं है, जैसा कि आज कल प्राय समझा जाने लगा है। सूक्ष्मदृष्टि से प्रकृति के पर्यवेक्षण की असाधारण शक्ति रखने के अतिरिक्त विविध कलाओं, अनेक शास्त्रों का ज्ञान भी कवि के लिए आवश्यक है जैसा कि कविता-मर्मज्ञों ने कहा है—

> "न स शब्दो न तद्वाच्य न स न्यायो न सा कला।
> जायते यत्र काव्यांगमहो भारो महान् कवे ॥"

अर्थात्—न ऐसा कोई शब्द है न ऐसा अर्थ है न ऐसा कोई न्याय है और न कोई ऐसी कला है, जो काव्य का अंग न हो इसलिए कवि पर कितना भारी भार है, कुछ ठिकाना है! इस सब भार को अपनी लेखनी की नोक पर उठाने की जो शक्ति रखता है वही महाकवि है।

> "सकलविद्यास्थानैकायतन पचदश काव्य विद्यास्थानम्"
>
> —राजशेखर

(जहाँ चौदह विद्या-स्थानों का एक जगह संगम होता है वह 'काव्य' पंद्रहवाँ 'विद्या स्थान' है।

यह सब बातें बिहारी की कविता में प्रचुर परिमाण में पायी जाती हैं। सतसई पढ़ने से प्रतीत होता है कि बिहारी का प्रकृति

पर्यवेक्षण बहुत ही बढा-चढा था। मानव-प्रकृति का उन्हे असाधारण ज्ञान था। इसके वह सचमुच पूरे पुरोहित थे। उनका सस्कृत-साहित्य का पाडित्य इमसे ही सिद्ध है कि सस्कृत के महारथी कवियों के मुकाबिले मे उन्होंने बहुत पराक्रम दिखलाया है—सस्कृत पद्यों की छाया पर रचना करके, नवीन चमत्कार लाकर कहीं कहीं उन आदर्श पद्यों को विच्छाय बना दिया है। गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास, पुराण, नीतिशास्त्र और दर्शनों में भी उनका अच्छा प्रगाढ परिचय था। जैसा कि आगे के अवतरणों से सिद्ध है।

बिहारी की प्रतिभा का विहारस्थल बहुत विस्तृत था, सर्वत्र समान रूप से उसकी गति अप्रतिहत थी। भास्कर की प्रभा की तरह वह प्रत्येक पदार्थ पर पडती थी। यही नहीं जहाँ सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँचती, वहाँ भी वह पहुँचती थी। 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' इस कथन की पुष्टि बिहारी की कविता से अच्छी तरह होती है। सूर्य की किरणें आलोकग्राही पदार्थ पर पड कर अपने असली रूप में प्रतिफलित होती हैं, दूसरी जगह नहीं, परतु बिहारी की अद्भुत प्रतिभा का प्रकाश जिस पदार्थ पर भी पडा, उसे ही अपने रूप में चमका कर दिखा दिया। गणित, ज्योतिष, इतिहास, नीति और दार्शनिक तत्त्वों से लेकर बच्चों के खिलौने, नटों के खेल, ठगों के हथकडे, अहेरी का शिकार, पौराणिक की धार्मिकता, पुजारी

का प्रसाद, वैद्य की परप्रतारणा, ज्योतिषी का ग्रहयोग, सूम की कजूसी, जिसे देखिये वही कविता के रग मे रगा चमक रहा है।

इस जगह सब के उदाहरण देना कठिन है, बात बहुत बढ जायगी, इसलिए इस प्रकार के कुछ नमूनों से ही सतोष करना होगा। किसी काव्य पर कुछ लिखते हुए प्रारभ मे उस काव्य से सुदर सूक्तियों के नमूने देने की रीति है, हम भी चाहते थे कि ऐसा करें—इस प्रकरण में बानगी के तौर पर कुछ सूक्तियों के नमूने सतसई से उद्धृत करें—पर इस इच्छा से विवशतावश विरत होना पड़ा। इसके दो कारण हैं, एक तो अनेक सूक्तियाँ तुलनात्मक समालोचना में और विरह-वर्णन में आगई हैं, कुछ इस प्रसग में आ जायँगी, कुछ सतसई सहार मे मिलेंगी। इसलिए पृथक् देने की कुछ आवश्यकता न रही। दूसरे सतसई मे किसे कहें कि यह सूक्ति है और यह साधारण उक्ति है। इस खाँड की रोटी को जिधर से तोड़िये उधर से ही मीठी है, इस जौहरी की दूकान में सब ही अपूर्व रत्न हैं। बानगी में किसे पेश करें। एक को खास तौर पर आगे करना दूसरे का अपमान करना है, जो सहृदयता की दृष्टि से हम समझते हैं अपराध है। रुचि भेद से किसी को कोई सूक्ति अच्छी जँचे, कोई वैसी न जँचे, यह और बात है। किसी को शब्दालकार पसद है किसी को अर्थालंकार, कोई वर्णनवैचित्री पर रीझता है तो

कवि ही जानता है। गणित-शास्त्र मे दसगुणोत्तरा सख्या रखने की चाल है। इकाई को दस से गुनकर दहाई और उसे दस से गुनकर सैकडा (शत) इत्यादि दसगुणोत्तर सख्या बनाते हैं। पर यहाँ विहारीजी के गणित में कुछ दूसरा ही चमत्कार है—यहाँ दसगुणित नहीं असख्य-सख्या-गुणित-अक (उद्योत) पैदा हो जाते हैं। यह कवि की प्रतिभा का ही काम है।

ज्योतिष का चमत्कार

मगल विंदु सुरग, ससि मुख केसर आड गुरु।
इक नारी लहि सग, रसमय किय लोचन जगत ॥

इस सोरठे में विहारी ने अपने ज्योतिष ज्ञान का परिचय वडे मनोहर रूप में दिया है। ज्योतिष का सिद्धात है कि जब वृहस्पति और मगल के साथ, चद्रमा एक राशि पर आता है तो देशव्यापक वृष्टि होती है—

'गुरु-भौम-समायोगे करोत्येकारर्णवां महीम्'

ज्योतिष के इस तत्व को कवि ने कितना कमनीय रूप दिया है। लौकिक पुरुषों को जितना आनंद इस भौतिक वृष्टि से होता है उससे कहीं अधिक विदग्ध सहृदयों को इस कविता-मृतवर्षा से होता है।

माथे पर लगी लाल बेंदी, मगल है। मुख चद्रमा है। उस पर केसर का (पीला) तिलक वृहस्पति है। इन सब ने एक

नारी (नाड़ी)—स्त्रीराशि—में इकट्ठे नेत्र होकर संसार को रसमय (अनुरागमय, जलमय) कर दिया—

मंगल का रंग लाल होता है इसलिए उसका 'अंगारक' और 'लोहितांग' नाम है। सो यहाँ बेंदी है। बृहस्पति का वर्ण पीला है वह यहाँ केसर का तिलक है। मुख की चन्द्रता प्रसिद्ध ही है। 'नारी' और 'रस' शब्द श्लिष्ट हैं (रस जल और शृङ्गार, 'रसोजल रसो हर्षो रस शृ गार उच्यते ॥')

यह सोरठा, श्लेषानुप्राणित समस्त वस्तु-विषय सावयव रूपक का और कवि के ज्योतिष ज्ञान का उत्कृष्ट उदाहरण है।

महाकवि गालिब ने भी (नीचे के शेर में) ज्योतिष के फलादेश की परीक्षा आशिकों की किस्मत पर करनी चाही है, और मौलाना हाली ने इसे कवि की प्रतिभा का उत्तम उदाहरण बतलाकर कहा है कि आशिक अपनी धुन में इतना मस्त (तल्लीन) है कि उसे हर जगह अपने ही मतलब की सूझती है, ज्योतिषी ने जो साल को अच्छा बतलाया है, उसका असर संसार की अन्य घटनाओं पर क्या होगा, इससे उसे कुछ मतलब ही नहीं वह देखना चाहता है कि देखें आशिक इस साल बुतों से क्या फैज़ (लाभ) पाते हैं।

देखिये पाते हैं, उश्शाक़ बुतों से क्या फ़ैज़,
इक बिरहमन ने कहा है कि यह साल अच्छा है।

(ग़ालिब)

मनि कज्जल चख झख लगनि उपज्यो सुदिन सनेह ।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवे लहि सुदेस सब देह ॥

ज्योतिप का सिद्धांत है कि जन्म समय मे यदि शनि, गुरु की राशि—अर्थात् धन या मीन मे, और स्वराशि—मकर या कुभ में तथा उच्चराशि—तुला में हो तो इस सुलग्न मे जन्म लेने वाला मनुष्य नरपति होता है। जैसा कि लिखा है—

"गुरुस्वर्चोच्चस्थे नरपति ।"

(वराहमिहिर बृहज्जातक)

कवि के स्नेह बालक की जन्म कुंडली मे देखिये यह योग कैसा अच्छा पडा है—आँख का काजल—शनि है। चख—चक्षु मीन है,—(शनिका रंग नीला है और मीन नेत्र का उपमान है यथा मीनाक्षी)—ऐसे सुयोग मे जिसका जन्म हुआ है वह स्नेह-बालक, सब देह रूप देश पर अधिकार जमा कर—राजा बनकर—क्यों भोग न करेगा ? अवश्य करेगा ज्योतिष की बात कभी झूठ हो सकती है। ज्योतिष के फलादेश में किसी को सदेह भी हो सकता है, पर बिहारी के इस ज्योतिष में सदेह का अवसर नहीं है।

तिय तिथि तरनि किसोर वय, पुन्न (पुन्य) काल सम दोन।
काहू पुन्यन पाइयत बैस-सधि-सक्रोन ॥

इस दोहे में सक्रांति के पुण्य प्राप्य पर्व का कितना अच्छा रूपक है। इस रूपक के 'महाकुड' में रसिक भक्तों के मन अनगिनत गोते लगा रहे हैं।

वैद्यक विज्ञान

"मैं लखि नारी ज्ञान, करि राख्यो निरधार यह ।
वहई रोग निदान, वहै, वैद औषध वहै ॥"

कविता के नलके में वैद्यक विज्ञान का 'आसव' खींचकर इस सोरठे की शीशी में भर दिया है । वैद्यक में और है क्या ? नाडी ज्ञान, रोगनिदान, औषधि और वैद्य ! मूल बातें यह तीन चार हैं, बाकी इसकी व्याख्या है ।

नारी—(नाडी)-ज्ञान से क्या अच्छा रोग का निदान किया है !

"वहई रोग निदान, वहै, वैद औषध वहै"

वही रोग का निदान (आदि कारण) वही वैद्यक चिकित्सक और वही औषध है ।

"यह तर्ज़ अहसान करने का तुम्हीं को जेब देता है,
मरज़ में मुब्तला करके मरीज़ों को दवा देना"

(अकबर)

"मुहब्बत में नहीं है फ़र्क़ जीने और मरने का ।
उसीको देखकर जीते हैं जिस काफ़िर पे दम निकले ॥"

(ग़ालिब)

"यह बिनसत नग राखिकै, जगत बड़ो जस लेहु ।
जरी विषम-जुर-ज्याइये, आय सुदर्शन देहु ॥"

इस नष्ट होते हुए नग (रत्नकामिनीरत्न) को बचा कर

जगत मे बडा यश प्राप्त करो विषम ज्वर मे जली हुई को 'सुदर्शन' देकर जिलाओ।

वियोग व्याधि ने विषम ज्वर का रूप धारण किया है, उसकी निवृत्ति के लिए सुदर्शन (सुन्दर दर्शन) अपेक्षित है।

'विषमज्वर' और 'सुदर्शन' पद श्लिष्ट हैं।

इतिहास पुराण-परिचय

ये दोहे कवि के इतिहास-परिचय मे पुष्ट प्रमाण हैं—

विरह विथा-जल-परस विन, वसियय मो हिय-ताल।
कछु जानत जल-थंभ विधि, दुरजोधन लौं लाल॥

दुर्योधन को 'जलस्तभन विद्या' सिद्ध थी। उसी के प्रताप से वह युद्ध के अंत में कुछ काल तक तालाब में छिपे बैठे रहे थे।

यह ऐतिहासिक उपमा कविता में आकर कितनी चमत्कृत हो गयी है। कोई विरहिणी कहती है—

हे लाल! दुर्योधन के समान तुम भी कुछ जलस्तभनविधि जानते हो, तभी तो विरह व्यथा-जल के स्पर्श से बचे रह कर मेरे हृदय-सरोवर में (आराम से) बैठे हो? हृदय में रहते हो पर उसमें भरे विरह-व्यथा के जलका—विरह व्यथा का—तुम्हें स्पर्श नहीं होता बडे बेपीर हो। (चिकने घडे हो)

बसि सकोच दस-बदन-बस साँच दिखावति बाल।
सिय लौं सोधति तिय तनहि लगनि-अगनि की ज्वाल॥

रामायण की प्रसिद्ध घटना 'अग्नि परीक्षा का' उल्लेख इस दोहे मे कितनी उत्तमता से किया है । विवश होकर सीता जी को रावण के यहाँ रहना पड़ा था । वहाँ से छुटकारा पाने पर उन्होंने अपने सत्य की परीक्षा अग्नि में प्रवेश करके दी थी। यहाँ सकोच (लज्जा-सचारी) प्रियदर्शन में बाधक होने से रावण है, लगन—दृढ प्रेम, अग्नि है। सोधना—उत्कठा पूर्वक स्मरण करना—(सोधित पद श्लिष्ट है—देह शुद्ध करना और स्मरण करना)—तनुशोधन है।

अर्थात् उसे सकोच ने ही अब तक तुमसे नहीं मिलने दिया सकोच ही मिलने में बाधक था, प्रेम का अभाव नहीं, उसका तुममें सच्चा अविचल प्रेम है। इसकी परीक्षा वह लगन की अग्नि में बैठकर दे रही है। तुम्हारा स्मरण कर रही है। सदेह छोड़कर उसे अगीकार करो।

नीति निपुणता

दुसह दुराज प्रजानि कौं, क्यों न बढ़ै दुख दद।
अधिक अँधेरौ जग करत, मिलि मावस रवि चद॥

जब 'दुअमली' होती है—प्रजा पर दुहरे शासकों का शासन होता है—तो प्रजा के दुख वे तरह बढ जाते हैं ससार के इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। दो फकीर एक गुदडी में गुजारा कर लेते हैं पर दो राजा एक 'रजाई' में नहीं रह सकते, यह एक प्रसिद्ध कहावत है। जब कभी कहीं दुर्भाग्यवश

ऐसा हुआ है, प्रजा पर विपति के बादल छा गये हैं। प्रजा पीडन पराकाष्ठा को पहुँच गया है।

बिहारी ने यह बात एक ऐसे दृष्टात मे समझाई है जिसे सदा सब कोई देखते हैं। पर नहीं समझते कि क्या बात है। अमावस के दिन अधकार के आधिक्य का क्या कारण है? यही दुअमली। उस दिन आकाश के दो शासक—सूर्य और चद्र—एक राशि में इकट्ठे होते हैं, जिससे ससार मे आदर्श अधकार छा जाता है।

सवैया

एक रजाई समै प्रभु द्वै सु तमोगुन को बहु भाँति बढ़ावत।
होत महा दुख दु द प्रजान को और सबै सुभकाज थकावत॥
"कृष्ण" कहै दिननाथ निसाकर एक ही मडल में जब आवत।
देखो प्रतच्छ अमावस को अँधियारो कितौ जग में सरसावत॥

(कृष्ण कवि)

कहै इहै श्रुति सुम्रति सो यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक हि राजा पातक रोग॥

श्रुति स्मृति और सयाने—नीति निपुण—लोगों की नीति, सब इसमें एक स्वर से सहमत हैं कि राजा, पातक और रोग, ये तीन 'निसक'—नि शक्त निर्बल को ही दबाते हैं।

'ज्ञानी' लोग सब कुछ करते हुए भी "पद्मपत्रमिवाम्भसा" निर्लिप्त रहते हैं। ज्ञानाग्नि की प्रचड ज्वाला, उनके पातक पुंज को तृण समूह की तरह भस्म कर डालती है। जिन पातकों का

ज्ञानहीन मनुष्य के लिए प्राणांत प्रायश्चित्त बतलाया है प्रचड ज्ञानी (प्रबल शासक जाति के समान) उससे एकदम बरी समझे गये हैं। मतलब यह कि ज्ञान-बलहीन को पातल दबाते हैं। देह-बलहीन को रोग दबाते हैं और पराक्रम-हीन—शासन-बल-रहित—जाति को राजा दबाते हैं। ससार का इतिहास इसमे साक्षी है।

"सर्वं बलवता धर्म सर्वं बलवता स्वकम् ।
सब बलवता पथ्य सर्वं बलवता शुचि ॥" (महाभारत)

बसै बुराई जासु तन ताही कौ सनमान ।
भलौ भलौ कहि छाडिये खोटे ग्रह जप दान ॥

ससार में सीधे, सच्चे और भले आदमी का गुजारा नहीं उसे कोई पूछता ही नहीं। छली, कपटी और प्रपची की सब जगह पूजा होती है, परपीडन में जो जितना ही प्रवीण है, उतना ही उसका आदर होता है। जिसने छल, बल से दूसरों को दबा कर अपनी धाक बिठाली—सिक्का जमा लिया उसी का लोहा सब मानते हैं। सीधे बेचारे एक कोने में पडे सडते रहते हैं उनकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता। जो खोटे ग्रह हैं (शनैश्चरादि) जिनसे किसी को हानि पहुँच सकती है—उन्हीं के नाम पर जप और दान किया जाता है। भले को भला कह कर छोड देते हैं। अजी वह स्वभाव ही से साधु हैं, माधो के लेने मे न ऊधो के देने में।

दार्शनिक तत्त्व

"मैं समुझ्यो निरधार—यह जग काँचो काँच सो।
एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियत जहाँ॥"

'अध्यासवाद' और 'विवर्त्तवाद' के समान 'प्रतिबिंबवाद' वेदांत शास्त्र का एक प्रसिद्ध वाद है। इस सोरठे में कवि ने वेदांत के 'प्रतिबिंबवाद' को कविता के साँचे में ढालकर कितना कमनीय रूप दे दिया है। संसार की असारता दिखाने के लिए काँच का दृष्टांत यहाँ कैसा चमक रहा है, इसमें संसार की असारता किस प्रकार पड़ी झलक रही है!

इस दृश्य प्रपंच के वेदांतमतानुसार ये पाँच अंश हैं—

"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततोद्वयम्॥"

(पंचदशी)

अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम, ये पाँच अंश हैं इनमें पहिले तीन—अस्ति, भाति और प्रिय अंश ब्रह्म का रूप है और पिछले दो—नाम और रूप जगत का स्वरूप है। प्रत्येक पदार्थ में सत्ता प्रकाश और प्रेमास्पदता, ब्रह्म का रूप है, जो सत्य है। घट-पटादि नाम और आकार संसार का रूप है और यही मिथ्या है।

यह जगत काँच के शीशे की तरह कच्चा—क्षण भंगुर है। ज्ञान की जरा ठेस लगते ही चकनाचूर हो जाता है प्रतिबिंबग्राही होने से

एक ही ब्रह्म प्रतिबिंबित हुआ दीख रहा है, यह सब उसी का विराट् रूप है, जो देख रहे हो। नानाभाव की पार्थक्य प्रतीति का कारण नाम, रूप, मिथ्या है।

"एकमेवाद्वितीय ब्रह्म" "नेह नानास्ति किञ्चन" "इन्द्रो मायाभि' पुररूप ईयते"।

अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपो बभूव।

एकस्तथा सर्वभूतातरात्मा, रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च॥"

इत्यादि शतश श्रुतियाँ इस बात का प्रतिपादन डके की चोट कर रही हैं।

अजौं तरयोना ही रह्यो श्रुतिसेवत इक अग।

नाकबास बेसर लह्यौ बसि मुक्तन के सग॥

ससार सागर से पार होने के लिए जीवन्मुक्त पुरुषों की सगति भी एक मुख्य उपाय है यही बात इस दोहे में एक मनोहर श्लेप में लपेट कर एक निराले ढँग से कही गई है। 'तरौना' कान के एक आभूपण का नाम है जिसे तरकी या ढेढी भी कहते हैं, 'बेसर' नाक का भूपण (नथ) है। इस दोहे में कवि ने श्लेप के बल से बडा अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। कहते हैं कि श्रुति (कान) रूप एक अग का सेवन करनेवाला तरौना अब तक 'तरयौना' ही है और 'मुक्तनि के सग बसि' मोतियो के साथ रह कर 'बेसर' ने नाकबास प्राप्त कर लिया है—नाक में स्थान पा लिया। इसका दूसरा प्रतीयमान अर्थ है कोई किसी मुमुक्षु से

कह रहा है कि मुक्ति चाहते हो तो जीवन्मुक्त महात्माओं की सगति करो, श्रुति-सेवा भी एक समार तरणोपाय है सही, किंतु इससे शीघ्र ही नहीं तरोगे। देखो यह कान का तरौना श्रुतिरूप एक अग का कब से सेवन कर रहा है पर अब तक 'तरयौना हीं रह्यो'—तरा नहीं, तरौना ही बना है और वेसर ने 'मुक्तनि के सगवसि' मुक्तों की सगति पाकर 'नाक-बास लह्यो'—वैकुठ—सालोक्य मुक्ति—प्राप्त करली।

अथवा केवल श्रुति सेवी मुमुक्षु से कह रहा है कि एक अग श्रुति का सेवन करते हुए तुम अब तक नहीं तरे—विचारतरगों मे गोते खा रहे हो और वह देखो अमुक व्यक्ति की सत्सगति से 'बेसर'—अनुपम नाकवास—वैकुठप्राप्ति—सायुज्यमुक्ति प्राप्त करली। दोहे के तरयौना, श्रुति, अग, नाक, वेसर, मुक्तनि ये सब पद श्लिष्ट हैं।

सगति की महिमा से ग्रथ भरे पड़े हैं गोस्वामी तुलसीदास ने भगवद्भक्तों की सतसगति को महिमा बड़े समारोह से समझाई है। पर इस चमत्कारजनक प्रकार से किसी ने कहा हो, सो हमने नहीं सुना। बिहारी अपने कविताप्रेमियों की नब्ज पहिचानते हैं, वे जानते हैं कि 'अपने बावले' को किस प्रकार समझाया जाता है। रसलोलुप कविताप्रेमी सतसगति की महिमा किस रूप मे सुनना पसद करेंगे। रात दिन जो चीजे प्रेमियों की नजर में समायी रहती हैं उनकी ओर इशारा करके ही उन्हे यह तत्व समझाना चाहिए। कवि के लिए यही उचित है। नीरस उपदेश पर

रसिक-रोगी कब कान देता है। सुनता भी नहीं आचरण करना तो दूर रहा।

कवि जब विषयासक्त प्रेमी को विषयासक्ति का दुष्परिणाम समझाना चाहता है तो उसके लिए किसी पतित भक्त या योगभ्रष्ट ज्ञानी का दृष्टांत देने को वह इतिहास के पन्ने पलटने नहीं बैठता। वह उस विषयों की दृष्टि में बसी हुई चीज को सामने दिखाकर झटपट बोल उठता है कि देखो, विषयासक्त की दुरतता।

जोग जुक्ति सिखइ सबै मनो महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता कानन सेवत नैन॥

इस दोहे में योगदक्ष कानन-सेवी ब्रह्माद्वैताभिलाषी वानप्रस्थ की समाधि (प्रतीत) है। जिस प्रकार किसी सद्गुरु महामुनि से योग की दीक्षा पाकर कोई प्रयान पुरुष प्रिय परम प्रेमास्पद ब्रह्म से अद्वैत—अभेद—चाहता हुआ, कानन—वन का सेवन करता है, इसी प्रकार कामिनी के नयन, महामुनि मदन से योगयुक्ति—प्रिय सगम की युक्ति—सीखकर कानों का सेवन कर रहे हैं।

योग, अद्वैतता, कानन, पद श्लिष्ट हैं 'योग सहननोपायध्यान सगतियुक्तिपु' के अनुसार मुनि के पक्ष में योग का अर्थ ध्यान है। नेत्र के पक्ष मे सगति।

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किये नीठि ठहराइ।
सूछम कटि पर ब्रह्म लौं अलख लखी नहिं जाइ॥

इस दोहे मे कवि ने परमसूक्ष्म कटि को अलख परब्रह्म की

उपमा देकर कौतूहल जनक कमाल किया है। पूर्वार्ध में ब्रह्म दर्शन के उपायों का निर्देश करने वाली एक सुप्रसिद्ध श्रुति को किस मार्मिकता से निराले ढग पर व्यक्त किया है।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मतव्यो निदिध्यासितव्य ।'

श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म के सबध में सुना, अनुमान के द्वारा उसके सच्चिदानद स्वरूप को जाना, निरतर ध्यान द्वारा किसी प्रकार इस तत्व को बुद्धि मे ठहराया, फिर भी ब्रह्म, ऐसा अलक्ष्य (अलख) है कि लखा नहीं जाता—उसका साक्षात्कार नहीं होता।

'कटि' (कामिनी की कमर) भी कुछ ऐसे ही सूक्ष्म और अलख है। श्रुति—शब्द-प्रमाण—द्वारा सुनते हैं कि कमर है,— 'सनम ! सुनते हैं तेरे भी कमर है'—फिर अनुमान करते हैं कि यदि कमर नहीं है तो यह शरीर—प्रपचस्तन शैल, मुख चद्र आदि किसके सहारे ठहरे हुए हैं। 'ब्रह्म' नहीं है तो यह विश्व-प्रपच—हिमालयादि-पर्वत, चद्रादि ग्रह-मडल किसमे स्थित हैं—कल्पित हैं। इसीलिए कटि—ब्रह्म अवश्य है। इस तत्व को कटि ब्रह्म के सत्तास्वरूप को—निरतर ध्यान द्वारा किसी प्रकार बुद्धि में ठहराते हैं। फिर भी 'अलख लखी नहि जाइ' उसका साक्षात्कार नहीं होता, नजर नहीं आती दिखलायी नहीं देती—'कहाँ है किस तरफ को है, किधर है,' यही कहते रह जाते हैं।

'सूछमकटि परब्रह्म सी अलख लखी नहिं जाय'

पूर्ण दार्शनिक 'पूर्णोपमा' है । परब्रह्म उपमान । कटि उपमेय । लखी नहिं जाइ, साधारण धर्म । 'सी, या, लौं' वाचक । देखा वाचक ! कैसी मनोहर पूर्णोपमा है ।

हिंदी संसार के सुप्रसिद्ध प्रतिभाशाली वश्यवाक् वर्तमान कविराज श्रीयुत पंडित नाथूराम शंकर जी शर्मा 'शंकर' ने भी दार्शनिक कविता के रूप में अनोखे ढंगपर 'कमर की अकथ कहानी' कही है, कटि का चमत्कृत वर्णन इस प्रकार किया है—

घनाक्षरी

'पास के गये पै एक बूँद हू न हाथ लगै,
दूरसों दिखात मृगतृष्णिका में पानी है ।
"शंकर" प्रमाण-सिद्ध रंग को न संग पर,
जान पड़े अंबर में नीलिमा समानी है ॥
भाव में अभाव है अभाव में धों भाव भरयो,
कोन कहे ठीक बात काहूने न जानी है ।
जैसे इन दोउन में दुविधा न दूर होत,
तैसे तेरी कमर की अकथ कहानी है ॥'

जनाब "अकबर" ने भी अपने खास रंग में कमर की कायनात बयान करने में कमाल किया है, क्या खूब फर्माया है ।

कहीं देखा न हस्ती वो अदम का इश्तराक ऐसा ।
जहाँ में मिस्ल रखती ही नहीं उनकी 'कमर' अपना ।

'जो पूछा नेस्ती हस्ती में क्यो कर फर्क जाहिर हो।
'क्मर' ने यार की ईमा किया में हद्दे-फासिल हूं॥'
जगत जनायो जिहिं सकल सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिये आँखि न देखी जाहिं॥

यह सब जगत (जिसकी सत्ता से स्थित और) जिसके प्रकाश से प्रतिभासित हो रहा है अपनी माया से रचकर जो इसे दिखा रहा है वह स्वय 'अज्ञेय' है, नहीं जाना जाता, नहीं दीख पडता। आँख से सब कुछ देखा जाता है सबको आँख से देख सकते हैं परस्वय आँख (अपने आपको) नही दीखती। आँख को आँख से नहीं देख पाते।

कितनी पते की बात कही है कैसा सुन्दर दृष्टांत है। यह जितना सहज और सरल है उतना ही निगूढ दार्शनिक रहस्य इसमें छिपा है इसकी व्याख्या में बहुत कुछ कहा जा सकता है।

भक्ति मार्ग

बिहारीलाल जिस प्रकार ज्ञानमार्गगामी थे इसी प्रकार भक्ति-पथ के प्रवीण पथिक थे। इसके भी दो चार दोहे सुन लीजिये। कैसे नावक के तीर हैं।

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाव।
तरु ससार पयोधि कौं, हरि नामै करि नाव॥

कैसा अच्छा रूपक बाधा है, और कितनी सच्ची बात कही है। हरि नाम को नाव बना और जपमाला की पतवार पकड—बस इस ससार-समुद्र को तर जा, और कोई उपाय पार उतरने का नहीं है।

तौ लगि या मन सदन में हरि आवहिं किहि बाट।
निपट बिकट जब लगि जुटे, खुलहिं न कपट-कपाट॥

कितनी मनोहर रचना है, कर्ण कटु टकार की बहार इस जगह कितनी श्रुति मधुर मालूम दे रही है। कपटी भक्त को क्या फटकार बतलाई है।

जब तक कपट के विकट किवाड जुटे हैं, तब तक मनरूप मदिर में हरि किस रास्ते मे आवें। जरा सोचो तो लोहे के फाटक से मकान को मजबूती के साथ बन्द कर रक्खा है और चाहते हो कि कोई भला आदमी उसके अदर पहुँच कर तुम्हें कृतार्थ करे।

'ईं ख्यालस्तो महालस्तो जनूं'
जपमाला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचे नाचे वृथा साचे राचे राम॥

इस दोहे के दड प्रहार ने भड भक्ति का भाडा फोड दिया है।

दूरि भजन प्रभु पीठ दै, गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निरगुन निकट हि, चग रग गोपाल॥

बिलकुल नई बात कही है। साकार या सगुण के उपासक, निराकार या निर्गुण के उपासकों पर ताना मारा करते हैं कि निर्गुण की उपासना हो ही नहीं सकती। बिहारी कहते हैं कि गुण विस्तार करने के—सगुण रूप की उपासना के—समय प्रभु पीठ देकर दूर भागते हैं।

उसके गुण अनत हैं कोई पार नहीं पा सकता, फिर कोई सगुणोपासक उसे क्षीरसागर में ढूँढता है, कोई वैकुठ में खोजता है, कोई कैलाश पर, और कोई और कहीं। पर निर्गुणोपासन मे वह पास ही प्रकट हो जाता है जहाँ ध्यान करो वहीं उसकी प्राप्ति सुलभ है। चगकी—पतग की—डोरी को जितना ही बढाओ उतना ही पतग ऊपर जाता है—डोरी (गुण) काट दो तो पास ही आ पडता है। 'चग रग' चग की तरह। कोई इसका अर्थ यह भी कहते हैं कि गुण-विस्तार काल मे—सत्व रजस्तमो-लक्षण गुण-विशिष्ट पुरुषों से वह (ईश्वर) दूर रहता है, और जो निर्गुण हैं—गुणातीत हैं—उनके निकट मे ही प्रकट होजाता है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा है—

गुणनेतानतीत्यत्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्म-मृत्यु-जरा-दु खैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥

पर इस अर्थ मे चग रग की सगति बिगड जाती है।

थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि ।
तुमहू कान्ह मनौ भये, आज काल के दानि ॥

बडी 'शोखी' है। 'दान' कहते हैं नटके ढोलिया को। नट बढिया के बढिया तमाशा दिखाता है—जान पर खेल कर एक से एक कठिन कला करके दिखाता है पर ढोलिया ढोल पर डका मारकर बराबर यही कहता रहता है कि 'यह कला भी नहीं बदी, यह भी नहीं बदी।'

भक्त ईश्वर से कहता है कि पहले तुम थोडे से गुण पर रीझ जाते थे—झूठमूठ भी किसी के मुँह से तुम्हारा नाम निकल गया तो उसका वेडा पार लगा दिया। पर अब हम नाना प्रकार की भक्ति से—अपने में अनेक सद्गुण सपादन करके—तुम्हें रिझाना चाहते हैं, पर तुम नहीं रीझते। मालूम होता है कि तुम भी नट के ढोलिया बन गये हो। हमारी प्रत्येक प्रार्थना, उपासना, भक्ति और सत्कर्म पर 'यह भी नहीं बदा' कह कर उपेक्षा कर रहे हो।

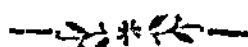
अथवा आज कल के दानी जिस तरह दानपात्र (याचक) में सौ मीन मेख निकाल कर—तुममें यह बात तो अच्छी है, पर इतनी कसर है, इस लिए हमारी सहायता के तुम पात्र नहीं हो, इत्यादि बहाना करके दानपात्र को कोरा टाल देते हैं, ऐसा ही बर्ताव तुम अपने दीन भक्तों के साथ करने लगे हो।

कबकौ टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु जगनायक जगबाय॥

ससार बडा स्वार्थी है। यहाँ कोई दीन दुखी के करुण-क्रंदन पर कान नहीं देता। इसी ससार की हवा, मालूम होता है, 'हे जगत गुरु' 'जग नायक' श्याम! तुम्हें भी लग गई। तभी इतने बेपीर हो गये हो।

साहित्य-कानन

[श्री पुरुषोत्तमदास टंडन]



हिंदी-साहित्य संसार-साहित्य का एक अंग है। वही हमारे समीप और हमारा विहार स्थल है। चिरपरिचय के कारण उसके अनेक स्थल हमें अति प्रिय हैं, और हमारे जीवन में समय समय पर हमें शीतलता देते रहते हैं। यहाँ सभी प्रकार के चित्र विचित्र वृक्ष हैं और कुछ तो ऐसे हैं कि यदि आप को इस हिंदी के अंश के अतिरिक्त साहित्य वन के अन्य प्रशों मे घूमने का सौभाग्य हो तो वहाँ भी उनकी तुलना न हो सकेगी। अहह! क्या सुंदर समूह है! एक ओर कबीर, मीरा, दादू, सुंदरदास का वाणी विकास है, पास ही सूर, तुलसी, नंददास, हितहरिवंश की पवित्र ध्वनि गूंज रही है। आइये, दिव्य दृष्टि की भिक्षा लेकर थोडी देर के लिए तो, आइये। देखिये, कितने भक्त-जनों के वृंद इन वाणियों के साथ आनंद से मतवाले होकर नृत्य कर रहे हैं और स्वयं उनके स्वर में स्वर मिला इस दैवी गान को कितना विशाल बना रहे हैं। क्यों! आपको भी कुछ सुनाई पड रहा है! ध्यानावस्थित होइये, तभी सुन पडेगा। अथवा आपका ध्यान कुछ दूसरे ही स्वरों पर मुग्ध है, जो देव, बिहारी,

मतिराम, सेनापति, पद्माकर, ठाकुर पजनेश के समूह से आ रहे हैं। इन स्वरों में भी अद्भुत आकर्षण है।

वधिक की वीणा के समान हमारे मन मृग को स्तंभित कर घसीटे लिए जा रहे हैं, किंतु रोकिये ! अपने को सँभालिये, अभी दूसरी ओर की दैवी वाणी का आनंद आपने समझा ही नहीं। यदि आप कबीर और सूर के समूहों की ध्वनि में मस्त नहीं हो सकते, तो भी अपने को देव और मतिराम के स्वरों में भुला न दीजिये। इधर भी क्या आपकी दृष्टि पड़ी ? देखिये भूषण, लाल और सूदन का कैसा गंभीर रणनाद हो रहा है। क्यों क्या इससे आप भयभीत हो रहे हैं ! बहुत दिनों से आप इधर आये ही नहीं। इस नाद में क्या ही आनंद है ! वह नाद है तो कर्कश, किंतु इसमें भी अद्भुत आनंद है। मैं देखता हूँ आप बारबार देव और मतिराम ही की ओर झुकते हैं। बहुत पुराना अभ्यास पड़ गया है। आप ने तो इस साहित्य वन में, जान पड़ता है, केवल इन्हीं के स्वरों में आनंद लेना सीखा है। किंतु अभी आप ने इस वन के उत्तुंग गगनस्पर्शी वृक्षों के दर्शन ही नहीं किये अथवा उधर आँख गई भी तो उसकी स्थिति को पहचान ही न सके। अब दूसरी ओर देखिए। रसखान, वृंद, गिरिधर इनकी तो सूक्तियाँ आपको अवश्य रिझा सकती हैं। ओहो ! किधर किधर देखें, चारों ओर रंगीलापन, माधुर्य और आनंद ही तो दिखाई पड़ता है। हम तो चलते चलते थोड़ी दूर

गये थे। यहाँ तो हमारे पास ही हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण, पूर्णजी और सत्यनारायण अपनी मस्तानी तान सुना रहे हैं। क्यों थोड़ी देर बैठ क्यों न जायँ।

वाह वाह ! यह तो कुछ एक और ही गुल खिल गया। हमारे साथ ही भ्रमण करने वाले मित्रों ने इस साहित्य वन में प्रतिभान्वित हो कैसा मनोहर और ओजस्वी गान आरंभ कर दिया ! पूज्य पाठक जी को इस वन का एक उजड़ा हुआ कोना ही पसंद है। वहीं एकांत में बैठे हुए वह भारत गीत से श्रोताओं का मनोविनोद कर रहे हैं। श्रद्धेय अयोध्यासिंह जी हमसे कुछ अलग ही हटकर अपने प्रवासी प्रियतम की खोज में करुणानाद कर हमारे चित्त को विह्वल कर रहे हैं। पास ही शंकरजी अपने डमरू के स्वरों के साथ संसार की जितनी कुरीतियाँ हैं उनको भस्म करने के लिए अपना तीसरा नेत्र खोले नृत्य कर रहे हैं। साधारण आदमी तो उनके पास जाते भयभीत होता है, किंतु पास से देखिये तो इस तेजस्विता में भी सहृदयता और कोमलता है। और भी पास दीनजी सूक्तिसर में लीन हो रहे हैं, और वियोगी हरि जी अपने प्रियतम के वियोग से दुखी करुण स्वर में उनका गान करते अष्ट छाप के कवियों की याद दिलाते हैं। किंतु हैं ! यह क्या ध्वनि आई ! यह तो बिलकुल विचित्र है। यह तो किसी नयी रागिनी की उत्पत्ति जान पड़ती है। वाह ! इसमें तो अधिकतर हमारे निजी मित्रगण ही सम्मिलित हैं।

एक ओर मैथिलीशरणजी भारत-भारती की आरती उतार रहे हैं इसी समूह में दूसरी ओर रामनरेश जी ईश्वर से भारत-वर्ष में ऐसे पथिक भेजने की प्रार्थना कर रहे हैं जो केवल अपने सतोगुण से, बिना रजोगुण और तमोगुण का सहारा लिये, भारत का उद्धार करें। ईश्वर ने तो अपनी प्रकृति मे तीनों गुणों का ही मिश्रण किया है और इस पृथ्वी स्थल को तो, जान पडता है, रजोगुणव्याप्त ही बनाया है। वह त्रिपाठी जी के गान से मोहित हो कहाँ तक अपने नियमों को बदल देगा, इसका मुझे कौतूहल है। तो भी तान तो अद्भुत ही छेडी! इन्हा मित्रों के पास माखनलालजी भारतीय आत्मा की करुणा और ओजभरी गाथा से और त्रिशूल जी अपने प्रबल शस्त्र का सहारा दे सोई हुई जनता को जगाने का प्रयत्न कर रहे हैं, इसी प्रयत्न में माधव शुक्ल जी भी उनका साथ दे स्वतत्रता देवी का यश कीर्तन कर रहे हैं। भारतवर्ष के नवयुवक आज इस गान को ध्यान से सुन रहे हैं, किंतु कुछ चुप से हैं। मैं तो ध्यान लगाये आसरा देख रहा हूँ कि वे कब इसी गान के स्वर में स्वय स्वर मिला इसी शक्ति शालिनी देवी के उपासक बनेंगे।

यहा का तो विचित्र दृश्य है! इस वन में तो चारों ओर जीवित वाणियाँ हैं। किधर देखें किधर सुनें—यहा तो आनद से नाचने को जी चाहता है।

किंतु वाह! इस वन के एक अश पर तो मेरा ध्यान ही

नहीं गया । यहा तो गान करने वालों के अतिरिक्त गभीर विचारो में लीन, अपने ओजस्वी शब्दों में शिक्षा देने वाले अथवा ब्रह्माड का अन्वेषण तथा प्राचीन इतिहास का वर्णन करने वाले विद्वज्जन विराजमान हैं । कुछ विद्वज्जन ऐसे भी हैं, जो इस साहित्य वन के गान का आनद उठाते हुए इसी की कथा औरों को सुना रहे हैं । यहां शिवसिंह सेंगर, लल्लूलाल जी, राजा शिवप्रसाद, बालकृष्ण भट्ट, तोताराम, सुधाकर द्विवेदी, अंबिकादत्त व्यास, राधाकृष्ण दास आदि प्रतिभाशाली व्याख्याता गभीर किंतु आनद-पूर्ण भाव से उपस्थित हैं । निकट ही श्रद्धेय महावीर प्रसाद द्विवेदी, गोविंद नारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी के दर्शन हो रहे हैं । अहा ! द्विवेदी जी किस प्रकार गभीर शब्दों में सरस्वती का आह्वान कर हिंदी-भाषी युवक मडली को उसके दर्शन करने का निमत्रण दे रहे है । और भी पास मिश्रबधु इस वन के अन्वेषण की कथा सुना लोगों को यहा भ्रमण करने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं, और मेरे मित्र रामदास गौड समस्त ब्रह्माड के वैज्ञानिक रूप का दिग्दर्शन करा रहे हैं । समीप ही जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, कामता प्रसाद गुरु, अंबिका प्रसाद वाजपेयी इस साहित्य-वन की रचना-शैली पर आश्चर्य के साथ विचार कर रहे हैं । यहीं माधवराव सप्रे, अमृतलाल चक्रवर्ती इस महा-वन के अन्य अशों का फोटो लिये हुए हिंदी भाषियों को दिखा रहे हैं ।

वाह ! यहाँ तो घूमते घूमते श्यामसुदर दास जी भी आ गये। आपको इस वन के दर्शन मात्र के आनद से ही तृप्ति नही हुई, आप यहा के न केवल इस हिंदी अश का किंतु अग्रेजी अश का भी आलोचन कर ओजस्वी शब्दों मे अपने मत की व्याख्या कर रहे हैं! यह तो आज एक और नया आनन्द हुआ। पद्मसिंह जी यहा आ विराजे। आप तो बिहारी पर लट्टू हो रहे हैं। बिहारी का इसी वन में गान सुनते सुनते जान पडता है, आपको यह भ्रम हो गया कि बिहारी की वाणी की शक्ति कुछ क्षीण हो गई। इसलिए आप तुरत दौडकर सजीवनी बूटी लेकर आये हैं, और स्वय भी बिहारी की तान पर ताल देकर उसको अधिक रोचक रूप में दर्शाने का प्रयत्न कर रहे हैं। किंतु वाह! आपने कैसी गूज डाल दी। लोग तो एक क्षण के लिए इस रागिनी को भी भूल साजिंदे के बाजे को ही सुन रहे हैं। धन्य हैं वह साजिदा! उसका आज सत्कार उचित ही है।

इस वन का आज दौडा-दौड में, अणुमात्र को ही सही, दर्शन तो हो गया। बहुत से माधुर्यपूर्ण कुजों और बहुत से गभीर व्याख्याताओं के आश्रमों में तो मेरी आँख भी नहीं गयी। इस भागा-भाग मे देख ही क्या सकता था? यह तो ससारी झझटों से अच्छा अवकाश मिलने पर ही सतोष के साथ हो सकता था किंतु मुझ ऐसे कीच में पडे हुए मनुष्य को क्षणमात्र का भी

दर्शन बहुत है। इसके पास आकर चित्त तो यही चाहता है कि यहीं की लता कुजों में घूमता रहूँ और यहाँ के गभीर दैवी-गीत तथा शिक्षा-प्रद सदुपदेश सुना करूँ। सब समूहों को देखकर भी बार बार कबीर और दादू, सूर और तुलसी इन्हीं के अलौकिक नाद सुनने को जी चाहता है। मुझे तो उनके ओजस्वी नाद के समान, न केवल वन के इस अश में किंतु अन्य अशों मे भी जिनका किसी समय मे अवलोकन किया है, कोई सुनाई न दिया। और फिर कबीर का तो कहना ही क्या! अन्य कवि तो सासारिक बातों की चर्चा करते हैं, शब्द-चातुरी और स्वकल्पित रस-माधुरी में मुग्ध होते हैं अथवा कुछ ऊपर की कहते हैं, तो सुनी सुनाई, किंतु कबीर के नाद को तो सुनते सुनते यह जान पडता है कि आँख के देखे हुए रहस्य का कोई वार्ता कर रहा है।

जायसी का वियोग वर्णन

[श्री रामचन्द्र शुक्ल]

जायसी का विरह वर्णन कहीं कहीं अत्यंत अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी मजाक की हद तक नहीं पहुँचने पाया है, उसमें गाम्भीर्य बना हुआ है। इनकी अत्युक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़तीं, हृदय की अत्यंत तीव्र वेदना के शब्द संकेत प्रतीत होती हैं। उनके अन्तर्गत जिन पदार्थों का उल्लेख होता है वे हृदयस्थ ताप की अनुभूति का आभास देने वाले होते हैं, बाहर बाहर से ताप की मात्रा नापने वाले मानदंड मात्र नहीं। जाड़े के दिनों में भी पड़ोसियों तक पहुँच उन्हें बेचैन करने वाले शरीर पर रखे हुए कमल के पत्तों को भून कर पापड़ बना डालने वाले, बोतल का गुलाबजल सुखा डालने वाले ताप से कम ताप जायसी का नहीं है। पर उन्होंने उसके वेदनात्मक और दृश्य अंश पर जितनी दृष्टि रक्खी है उतनी उसकी बाहरी नाप जोख पर नहीं जो प्राय ऊहात्मक हुआ करती है। नाप जोख वाली ऊहात्मक पद्धति का जायसी ने कुछ ही स्थानों पर प्रयोग किया है। जैसे राजा की प्रेम पत्रिका के इस वर्णन में—

आखर जरहि, न काहू छूआ। तब दुख देखि चला लेइ सूआ॥

अथवा नागमती के विरह-ताप की इस व्यंजना में—

जेहि पखी के निकट होइ कहै विरह की बात ।
सोई पखी जाइ जरि, तरिवर होहि निपात ॥

इस ऊहात्मक पद्धति का दो चार जगह व्यवहार चाहे जायसी ने किया हो पर अधिकतर विरहताप के वेदनात्मक स्वरूप की अत्यंत विशद व्यंजना ही जायसी की विशेषता है। उन्होंने अत्युक्ति की है और खूब की है पर वह अधिकांश संवेदन के स्वरूप में है, परिमाण निर्देश के रूप में नहीं है। संवेदन का यह स्वरूप उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा व्यक्त किया गया है। अत्युक्ति या अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा में सिद्ध और साध्य का भेद होता है। उत्प्रेक्षा में अध्यवसान साध्य (संभावना या संवेदना के रूप में) होता है और अत्युक्ति या अतिशयोक्ति में सिद्ध। "धूप ऐसी है कि रखते रखते पानी खौल जाता है" यह वाक्य मात्रा का आधिक्य मात्र सूचित करता है। मात्रा के आधिक्य का निरूपण ऊहा द्वारा कुछ चक्कर के साथ भी हो सकता है, जैसा कि बिहारी ने प्राय किया है। पर यह पद्धति काव्य के लिए सर्वत्र उपयुक्त नहीं। लाक्षणिक प्रयोगों को लेकर कुछ कवियों ने ऊहा का जो विस्तार किया है वह अस्वाभाविक, नीरस और भद्दा हो गया है। वह "कुल का दीपक है" इस बात को लेकर यदि कोई कहे कि "उसके घर तेल के खर्च की बिलकुल बचत होती है" तो इस उक्ति में कवित्व की

कुछ भी सरसता न पाई जायगी। बिहारी का "पत्रा ही तिथि पाइए" वाला दोहा इसी प्रकार का है। अस्तु, "धूप इतनी है कि खलते खलते पानी खौल जाता है" यह कथन ऊहा द्वारा मात्रा निरूपण के रूप मे हुआ। यही बात यदि इस प्रकार कही जाय कि *"धूप क्या है मानो चारों ओर आग बरस रही है"* तो यह संवेदन के रूप में कहा जाना होगा। पहले कथन में ताप की मात्रा का आधिक्य व्यग्य है, दूसरे में उस ताप से उत्पन्न हृदय की वेदना। एक में वस्तु व्यंग्य है दूसरे मे संवेदन। पहला वाक्य बाह्य वृत्त का व्यंजक है और दूसरा आभ्यतर अनुभूति का। मतलब यह कि जायसी ने यह कम कहा है कि विरह ताप इतनी मात्रा का है, यह अधिक कहा है कि ताप हृदयों में ऐसा जान पडता है, जैसे—

जानहुँ अगिनि के उठहिं पहारा। औ सब लागहिं अग अँगारा॥
जरत बजागिनि कर पिउ छाँहा। आइ बुझाउ अँगारन्ह माँहा॥
लागिउ जरै जरै जस भारू। फिरि फिर भूँजेसि तजिउ न बारू॥

"फिर फिर भूँजेसि तजिउँ न बारू" भाड की तपती बालू के बीच पडा हुआ अनाज का दाना जैसे बार बार भूने जाने पर उछल उछल पडता है पर उस बालू से बाहर नहीं जाता, उसी प्रकार इस प्रेम जन्य संताप के अतिरेक से मेरा जी हट हट कर भी उस संताप के सहने की बुरी लत के कारण उसी को ओर प्रवृत्त रहता है। मतलब यह कि वियुक्त प्रिय, का ध्यान

आते ही चित्त ताप से विह्वल हो जाता है फिर भी वह बार बार उसी का ध्यान करता रहता है। प्रेम दशा चाहे घोर यत्रणा मय हो जाय पर हृदय उस दशा से अलग होना नहीं चाहता। यहाँ इसी विलक्षण स्थिति का चित्रण है। यहाँ हम कवि को वेदना के स्वरूप-विश्लेषण में प्रवृत्त पाते हैं, ताप की मात्रा नापने में नहीं। मात्रा की नाप तो बाहर बाहर से भी हो सकती है, पर प्रेमवेदना के आभ्यतर स्वरूप की पहचान प्रेमवेदनापूर्ण हृदय में ही हो सकती है। जायसी का ऐसा ही हृदय था। विरह-ताप का वर्णन कवि ने अधिकतर सादृश्य-सबध-मूलक गौणी लक्षणा द्वारा किया है।

विरह ताप की मात्रा का आधिक्य सूचित करने के लिए जहाँ कहीं जायसी ने ऊहात्मक या वस्तु-व्यजनात्मक शैली का अवलंबन किया है वहाँ अधिकतर तीसरे प्रकार का विधान ही देखने मे आता है जिसमें ऊहा की आधार-भूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य और स्वत' सभर्वी होता है पर उसके हेतु की कुछ और ही कल्पना की जाती है। इस प्रकार का विधान भी प्रथम प्रकार के विधान से अधिक उपयुक्त होता है। इसमें हेतूत्प्रेक्षा का सहारा लिया जाता है जिसमें 'अप्रस्तुत' वस्तुओं का गृहीत दृश्य वास्तविक होता है, केवल उसका हेतु कल्पित होता है। हेतु परोक्ष हुआ करता है इससे उसकी अतथ्यता सामने आकर प्रतीति में बाधा डालती नहीं जान पड़ती। इस युक्ति मे

कवि विरह-ताप के प्रभाव की व्यापकता को बढ़ाता बढ़ाता सृष्टि भर में दिखा देता है। एक उदाहरण काफी होगा—

अस परं जरा बिरह कर गठा। मेघ साम भए धूम जो उठा॥
दाधा राहु, केतु गा दाधा। सूरज जरा, चाँद जरि आधा॥
और सब नखत तराइ जरहीं। टूटहि लूक, धरति महँ परहीं॥
जरै सो धरती ठावहि ठाऊँ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊँ॥

इन चौपाइयों में मेघों का श्याम होना, राहु केतु का काला (झुलसा सा) होना, सूर्य्य का तपना, चंद्रमा की कला का खंडित होना, पलास के फूलों का लाल (दहकते अंगारे सा) होना आदि सत्य हैं। वे विरह ताप के कारण ऐसे हैं केवल यह बात कल्पित है।

ताप के अतिरिक्त विरह के और और अंगों का भी विन्यास जायसी ने इसी हृदय हारिणी और व्यापकत्व विधायिनी पद्धति पर बाह्य प्रकृति को मूल आभ्यंतर जगत् का प्रतिबिंब सा दिखाते हुए किया है। काम हेतूत्प्रेक्षा से लिया गया है। प्रेम-योगी रत्नसेन के विरह व्यथित हृदय का प्रभाव हम सूर्य्य, चंद्र, वन के पेड़, पक्षी, पत्थर, चट्टान सब में देखते चलते हैं —

रोंव रोंव वै बान जो फूटे। सूतहि सूत रुहिर मुख छूटे॥
नैनहिं चली रकत कै धारा। कथा भीजि भयउ रतनारा॥
सूरज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता॥
भा बसंत, रातीं बनसपती। और राते सब जोगी जती॥

भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू। औ राते तह पखि पखेरू ॥
राती सती, अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया॥
डुगुर भा पहार जो भीजा। पै तुम्हार नहिं रोंव पसीजा॥

इस प्रकार नागमती के आँसुओं से सारी सृष्टि भीजी हुई जान पडती है—

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत-आँसु घुघची बन बोइ॥
जहँ जहँ ठाढि होइ बनवासी। तहँ तहँ होई घुघचि कै रासी॥
बूँद बूँद महँ जानहु जीऊ। गुँजा गूँजि करै "पिउ पीऊ"॥
तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू बूडि उठे होइ राते॥
राते बिंब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहूँ॥

नागमती का विरह वर्णन हिंदी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। नागमती उपवनों के पेडों के नीचे रात रात भर रोती फिरती है। इस दशा में पशु पक्षी, पेड, पल्लव जो कुछ सामने आता है उसे वह अपना दुखडा सुनाती है। वह पुण्य दशा धन्य है जिसमे ये सब अपने सगे लगने लगते हैं और यह जान पडने लगता है कि इन्हें दु:ख सुनाने से भी जी हल्का होगा। सब जीवों का शिरोमणि मनुष्य और मनुष्यों का अधीश्वर राजा, उसकी पटरानी, जो कभी बडे बडे राजाओं और सरदारों की बातों की ओर भी ध्यान न देती थी वह पक्षियों से अपने हृदय की वेदना कह रही है। उनके सामने अपना हृदय खोल रही है। हृदय की इस उदार व्यापक दशा का

कवियों ने केवल प्रेम-दशा के भीतर ही वर्णन किया है, यह बात ध्यान देने योग्य है।

नागमती उपवनों में रोती फिरती है। उसके विलाप से घोसलों मे बैठे हुए पक्षियों को नींद हराम हो गई है—

फिरि फिरि रोव, कोइ नहिं डोला। आधी राति विहगम बोला॥
तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी॥

और कवियों ने पशु पक्षियों को संबोधन भर करने का उल्लेख करके बात और आगे नहीं बढाई है जिससे ऊपर से देखने वालों का ध्यान "उन्माद" की दशा ही तक रह जाता है। पर जायसी ने जिस प्रकार मनुष्य के हृदय में पशु-पक्षियों से सहानुभूति प्राप्त करने की संभावना की है, उसी प्रकार पक्षियों के हृदय में सहानुभूति के संचार की भी। उन्होंने सामान्य हृदय तत्त्व की सृष्टि व्यापिनी भावना द्वारा मनुष्य और पशु पक्षी सब को एक जीवन सूत्र में बद्ध देखा है। राम के प्रश्न का खग, मृग और मधुकर कुछ जवाब नहीं देते हैं। राजा पुरुरवा कोकिला, हंस इत्यादि को पुकारता ही फिरता है पर कोई सहानुभूति प्रकट करता नहीं दिखाई पड़ता (विक्रमोर्वशी अंक ८) पर नागमती की दशा पर एक पक्षी को दया आती है, वह उसके दुःख का कारण पूछता है। नागमती उस पक्षी से कहती है—

चारिउ चक्र उजार भए, कोइ न संदेसा टेक।
कहौं विरह-दुख आपन, बैठि सुनहु दंड एक॥

इसपर वह पक्षी सदेशा ले जाने को तैयार हो जाता है।

पद्मावती से कहने के लिए नागमती ने जो सदेशा कहा है वह अत्यत मर्मस्पर्शी है। उसमें मान, गर्व आदि से रहित, सुख भोग की लालसा से अलग अत्यत नम्र, शीतल और विशुद्ध प्रेम की झलक पाई जाती है—

पद्मावति सों कहेहु विहगम। कत लोभाइ रही करि सगम॥
तोहि चैन सुख लहै सरीरा। मो कहँ हिये दु द दुख पूरा॥
हमहुँ वियाही सग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ, जानु पर जीऊ॥
मोंहि भोग सों काज न, वारी। सौंह दिस्ट कै चाहन हारी॥

मनुष्य के आश्रित मनुष्य के पाले हुए, पेड पौधे किस प्रकार मनुष्य के सुख से सुखी और दुख से दु:खी दिखाई देते है, यह दृश्य बडे कौशल और बडी सहृदयता से जायसी ने दिखाया है। नागमती की विरह दशा में उसके बाग बगीचों से उदासी बरस रही थी। पेड पौधे सब मुरझाए पडे थे। उनकी सुध कौन लेता है? राजा रत्नसेन के चित्तौर लौटते ही—

पलुही नागमती कै वारी। सोने फूल फूलि फुलवारी॥
जावत पखि रहे सब दाहे। सबै पखि बोले गहगहे॥

जब पेड पौधे सूख रहे थे तब पक्षी भी आश्रय न पाकर ताप से झुलस रहे थे। इस प्रकार नागमती की वियोग-दशा का विस्तार केवल मनुष्य जाति तक ही नहीं, पशु पक्षियों और पेड पौधों तक दिखाई पडता था। कालिदास ने पाले हुए मृग

पौधों के प्रति शकुतला का विरह दिखाकर इसी व्यापक विशद भाव की व्यजना की है।

नेप्रलभ शृङ्गार ही 'पद्मावत' में प्रधान है। विरह दशा के । मे जहाँ कवि ने भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है, कोई अरुचिकारक वीभत्स दृश्य नहीं आया है। कृशता, वेदना आदि के वर्णन में भी उन्होंने शृ गार के उपयुक्त सामने रखी है केवल उसके स्वरूप में कुछ अतर दिखा है। जो पद्मिनी स्वभावत· पद्मिनी के समान विकसित रहा ो थी वह सूखकर मुरझाई हुई लगती है।

वन सूख पखुरी बेहरानी। गलि गलि कै मिलि छार हेरानो॥

इस रूप में प्रदर्शित व्यक्ति के प्रति सहानुभूति और दया का अग्रसर रहता है। पाठक उसकी दशा व्यजित करने वाली की ओर कुछ देर दृष्टि गडाकर देख सकते हैं। मुरझाया भी फूल ही है। अतीत और सौंदर्य्य के स्मरण से भाव उद्दीप्त होता है। पर उसके स्थान पर यदि चीर कर हृदय ब्रून, नसें और हड्डियाँ दिखाई जाय तो दया होते हुए भी वस्तुओं की ओर दृष्टि जमाते न बनेगा।

विरह दशा के भीतर "निरवलबता" की अनुभूति रह रह निरही को होती है। देखिए, कैसा परिचित और साधारण तिक व्यापार सामने रखकर कवि ने इस "निरवलबता" गोचर प्रत्यक्षीकरण किया है—

आवा पवन बिछोह कर पात परा बेकरार ।
तरिवर तजा जो चूरि कै लागै केहि के डार ॥

'लागै केहि के डार' महावरा भी बहुत अच्छा आया है ।

इसी नागमती के विरह-वर्णन के अतर्गत वह प्रसिद्ध बारहमासा है जिसमें वेदना का अत्यत निर्मल और कोमल स्वरूप, हिंदू दाम्पत्य-जीवन का अत्यत मर्मस्पर्शी माधुर्य्य, अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्य्य-भावना, तथा विषय के अनुरूप भाषा का अत्यत स्निग्ध, सरल, मृदुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है। पर इन कुछ विशेषताओं की ओर ध्यान जाने पर भी इस के सौंदर्य्य का बहुत कुछ हेतु अनिर्वचनीय रह जाता है। इस बारहमासे मे वर्ष के बारह महीनों का वर्णन विप्रलंभ शृ गार के उद्दीपन की दृष्टि से है जिसमें आनदप्रद वस्तुओं का दु खप्रद होना दिखाया जाता है, जैसा कि मंडन कवि ने कहा है—

जेइ जेइ सुखद, दुखद अब तेइ तेइ, कवि मडन बिछुरत जदुपती ।

प्रेम में सुख और दु ख दोनों के अनुभूति की मात्रा जिस प्रकार बढ़ जाती है उसी प्रकार अनुभूति के विषयों का विस्तार भी सयोग की अवस्था मे जो प्रेम सृष्टि की सब वस्तुओं से आनद का सग्रह करता है वही वियोग की दशा में सब वस्तुओं से दु ख का सग्रह करने लगता है। इसी दु खद रूप मे प्रत्येक मास की उन सामान्य प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का

वर्णन जायसी ने किया है जिनके साहचर्य्य का अनुभव मनुष्य मात्र—राजा से लेकर रंक तक—करते हैं। अतः इस बारहमासे में मुख्यतः दो बातें देखने की हैं—

(१) प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का दिग्दर्शन।

(२) दुःख के नाना रूपों और कारणों की उद्भावना।

प्रथम के संबंध में यह जान लेना चाहिए कि प्राचीन संस्कृत-कवियों का सा संश्लिष्ट विशद चित्रण उद्दीपन की दृष्टि से किए हुए ऋतु वर्णन में नहीं हुआ करता, केवल वस्तुओं और व्यापारों की अलग अलग झलक भर दिखा कर प्रेमी के हृदय की अवस्था की व्यंजना हुआ करती है। परिचित प्राकृतिक दृश्यों का साहचर्य्य द्वारा और कवियों की वाणी द्वारा जो मर्मस्पर्शी प्रभाव प्राप्त है उसका अनुभव उनकी ओर संकेत करने मात्र से भी सहृदयों को हो जाता है। इस प्रकार बहुत ही सुंदर संकेत—बहुत ही मनोहर झलक—इस बारहमासे में हम पाते हैं, कुछ उदाहरण लीजिए—

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा। सानों विरह, दुंद दल बाजा॥
धूम, साम, धौरे घन धाए। सेत धजा बग-पाँति देखाए॥
खड्ग बीजु चमकै चहुँ ओरा। बुंद बान बरिसहिं चहुँ ओरा॥
* * * *
बाट असूझ अथाह गभीरी। जिउ बाउर भा फिरै भँभीरी॥
जग जल बूड़ जहाँ लगि ताकी। मोरि नाव खेवक बिनु थाकी॥
* * * *

जेठ जरै जग चलै लुआरा। उठहिं बवंडर परहिं अँगारा।

उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ, मरौं दुख बाँधी॥

अपनी भावुकता का बडा भारी परिचय जायसी ने इस बात मे दिया है कि रानी नागमती विरह दशा मे अपना रानीपन बिलकुल भूल जाती हैं और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप में देखती हैं। इसी सामान्य स्वाभाविक वृत्ति के बल पर उसके विरह वाक्य छोटे बडे सबके हृदय को समान रूप से स्पर्श करते हैं। यदि कनक-पर्यंक, मखमली सेज, रत्नजटित अलकार, सगमरमर के महल, खसखाने इत्यादि की बातें होतीं तो वे जनता के एक बडे भाग के अनुभव से कुछ दूर की होतीं। पर जायसी ने स्त्री-जाति की या कम से कम हिंदू गृहिणी मात्र की सामान्य स्थिति के भीतर विप्रलभ शृगार के अत्यत समुज्ज्वल रूप का विकाश दिखाया है। देखिए चौमासे मे स्वामी के न रहने से घर की जो दशा होती है वह किस प्रकार गृहिणी के विरह का उद्दीपन करती है—

पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह मदिर को छावा॥

इसी प्रकार शरीर का रूपक देकर बरसात आने पर साधारण गृहस्थों की चिंता और आयोजना की झलक दिखाई गई है—

तपै लागि अब जेठ असाढ़ी। मोहिं पिउ बिनु छाजनि भइ गाढ़ी॥

तन तिनउर भा, झूरौं खरी। भइ बरखा, दुख आगरि जरी॥

बध नाहिं औ कध न कोई। बात न आव कहौं का रोई ! ॥

मॉठि नाठि, जग बात को पूछा। बिनु जिउ फिरै मूज-तनु छूछा॥
भई दुहेली टेक बिहूनी। थांभ नाहि, उठि सकै न थूनी॥
बरसै मेंह, चुवहिं नैनाहा। छपर छपर होइ रहि बिनु नाहा॥
कोरौ कहा, ठाठ नव साजा। तुम बिनु कत न छाजनि छाजा॥

यह आशिक माशूकों का निर्लज्ज प्रलाप नहीं है, यह हिंदू-गृहिणी की विरह वाणी है। इसका सात्विक मर्यादा पूर्ण माधुर्य परम मनोहर है।

नागमती देखती है कि बहुतों के बिछुडे हुए प्रिय मित्र आ रहे हैं, पर मेरे प्रिय नहीं आ रहे हैं। इस वैषम्य की भावना उसे और भी व्याकुल करती है। किसी वस्तु के अभाव से दुःखी मनुष्य के हृदय की यह एक अत्यत स्वाभाविक वृत्ति है। पपीहे का प्रिय पयोधर आ गया, सीप के मुँह में स्वाति की बूंद पड गई, पर नागमती का प्रिय न आया।

चित्रा मित्र मीन कर आवा। पपिहा पीउ पुकारत पावा॥
स्वाति-बूंद चातक मुख परे। समुद सीप मोती सब भरे॥
सरवर सँवरि हस चलि आए। सारस कुरलहिं खँजन देखाए॥

विरह का दुःख ऐसा नहीं कि चारो ओर जो वस्तुएँ दिखाई पडती हैं उनसे कुछ जी बहले। उनसे तो और भी अपनी दशा की ओर विरही का ध्यान जाता है, और भी उस दशा का दुःसह स्वरूप स्पष्ट होता है चाहे वे उसको दुःख दशा से भिन्न दशा में दिखाई पडे, चाहे कुछ सादृश्य लिए हुए। भिन्न भिन्न

ऋतुओं की नाना वस्तुओं और व्यापारों को विरही लोग किस प्रकार सादृश्य-भावना द्वारा अपनी दशा की व्यंजना का सुलभ साधन बनाया करते हैं।

वरसै मघा झकोरि झकोरी। मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी॥
पुरवा लाग भूमि जल पूरी। आक जवास भई तस झूरी॥

*   *   *   *

सखिन्ह रचा पिउ सग हिंडोला। हरियरि भूमि कुसुभी चोला॥
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। विरह झुलाइ देइ झकझोरा॥

*   *   *   *

तन जस पियर पात भा मोरा। तेहि पर विरह देइ झकझोरा॥

विरहिणी की इस सादृश्य-भावना का वर्णन कवि परंपरा-सिद्ध है। सूरदास का "निसदिन वरसत नैन हमारे" यह पद प्रसिद्ध है। और कवियों ने भी ऋतु-सुलभ वस्तुओं और व्यापारों के साथ विरहिणी के तन और मन की दशा का सादृश्य वर्णन किया है। यह सादृश्य-कथन अत्यत स्वाभाविक होता है। क्योंकि इसमें उपमान ऊहा द्वारा सोचकर निकाला हुआ नहीं होता बल्कि सामने प्रस्तुत रहता है, और प्रस्तुत रहकर उपमेय की ओर ध्यान ले जाता है। वैशाख में विरहिणी एक ओर सूखते तालों की दरारें को देखती है दूसरी ओर विदीर्ण होते हुए अपने हृदय को। बरसात में वह एक ओर तो टपकती हुई ओलती देखती है दूसरी ओर अपने आँसुओं की धारा।

एक ओर सूखे हुए "आक जवास" को देखती है दूसरी ओर अपने शरीर को। शिशिर मे एक ओर सूखकर झडे हुए पीले पत्तों को देखती है, दूसरी ओर अपनी पीली पडी देह को। अत उक्त उपमाएँ "दूर की सूझ" नहीं है। उनमें सादृश्य बहुत सोचा विचारा हुआ नहीं है, उसका उदय विरह-विह्वल अत करण मे बिना प्रयास हुआ है। दो उपस्थित वस्तुओं मे सादृश्य की ऐसी स्वाभाविक भावना सस्कृत कवियों ने बहुत अच्छी की है। कालिदास का यह श्लोक ही लीजिए—

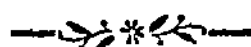
स पाटलाया गवि तस्थिवांस।
धनुधर केसरिण ददर्श।
अधित्यकायामिव धातुमय्या।
लोध्रद्रुम सानुमत प्रफुल्लम् (२-२६)

इस बारहमासे में हृदय के वेग की व्यजना अत्यत स्वाभाविक रीति से होती हुई भी भाव अत्यत उत्कर्ष दशा को पहुचे हुए दिखाए गए है। देखिए, अभिलाषा का यहाँ कैसा उत्कर्ष है—

रात दिवस बस यह जिउ मोरे।
लगौं निहोर कत अब तोरे॥
यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उडाव।
मकु तेहि मारग उडि परै कत धरै जहँ पाव॥

श्रीराम और सीता का प्रथम साक्षात्कार

[श्री राजबहादुर लमगोडा]



सीता पर राम लक्ष्मण के दर्शन का जो प्रभाव पड़ा है, वह ठीक वैसा है जैसा एक भोली भाली राजकुमारी पर होना चाहिए। उसका हृदय भी उसी के सदृश भोला-भाला है। भला अभी उसमें राम के ख्याल की उड़ान कहाँ? अभी तो उसकी आँखें प्रथम दर्शन के साथ ही झेंप गई होंगी। अभी लज्जा ने उस निर्भीकता को आने नहीं दिया जिससे रामचन्द्र के 'विलोचन चारु अचचल' हो गए और जिससे अभी तनिक देर पीछे (पर अभी नहीं) स्वय सीता जी के नेत्रों की भी वही दशा होगी जिसे कवि ने यों वर्णन किया है।

थके नयन रघुपति छबि देखी। पलकन हू परिहरी निमेखी॥

अभी सुखपावा का अनुभव भी तो न था। न जाने क्या अनुभव था, बेचारी भोली-भाली राजकुमारी क्या जाने? परन्तु, प्रभाव यद्यपि अप्रत्यक्ष है फिर भी स्थायी है। राम जी तो अपनी दशा का अनुभव कर लक्ष्मण से बातें करते हुए चल भी दिए और यहाँ वही एक प्रकार-के-रुकने की हालत बनी हुई है। हाँ, राम जी के हटते ही किसी चीज के खो जाने का सा

अनुभव आरंभ हुआ और अब पहले पहल वस्तुत उस अमूल्य वस्तु के खोते ही हैरानी शुरू हुई। इसीको तो काव्य-शैली में 'कुछ खोकर सीखना' कहते हैं। अस्थायी वियोग का यही तो आनद है। बिना उस वियोग के प्रेमिका की कद्र भी नहीं होती। इन्हीं रुकावटों से प्रेम स्रोत का प्रभाव एव वेग बढता जाता है। इसी 'आँख मिचौनी' के तमाशे और तत्पश्चात राजाओं की पारस्परिक वार्ता और फिर परशुराम के निराशा जन्य क्रोध की रुकावटों से प्रेम मे ऐसी शीघ्रता के साथ परिपक्वता उत्पन्न करदी गई है कि तीन ही दिवस के अदर वह प्रेम-पूर्णता की अवस्था में पहुँच गया है।

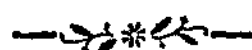
चितवत चकित चहूँ दिशि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मन चीता॥

'चितवत चकित चहूँ दिशि' का 'च' का अनुप्रास कैसा अच्छा है। तनिक देर के लिए तो ऐसा जान पडता है मानों 'चितवत' और 'चकित' होने के लिए ही बनी है। (यह ठीक भी है। चितवत उसी को कहते हैं जिसमे शीघ्र शीघ्र किंचित् परिवर्तन होता रहता है। दृष्टि का अधिक ठहराव हुआ और 'चितवत' अदृश्य होगई।)

[१] 'चितवत' (अ) इसमें ऐसी क्रियायुक्त बनावट है जिसमें कृत्रिमता का लेश भी नहीं, प्रत्युत एक अल्प-वयस्का राजकुमारी (जो अभी राजकुमारी के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं होती । क्योंकि 'शक्ति' वा 'जगत जननी' का जहाँ

श्रीराम और सीता का प्रथम साक्षात्कार

[श्री राजबहादुर लमगोड़ा]



सीता पर राम लक्ष्मण के दर्शन का जो प्रभाव पडा है, वह ठीक वैसा है जैसा एक भोली भाली राजकुमारी पर होना चाहिए। उसका हृदय भी उसी के सदृश भोला भाला है। भला अभी उसमे राम क खयाल की उडान कहाँ ? अभी तो उमकी आँखें प्रथम दर्शन के साथ ही झेंप गई होंगी। अभी लज्जा ने उस निर्भीकता को आने नहीं दिया जिससे रामचद्र के 'विलोचन चारु अचचल' हो गए और जिससे अभी तनिक देर पीछे (पर अभी नहीं) स्वय सीता जी के नेत्रों की भी वही दशा होगी जिसे कवि ने यों वर्णन किया है।

थके नयन रघुपति छबि देखी। पलकन हू परिहरी निमेषी॥

अभी सुरपावा का अनुभव भी तो न था। न जाने क्या अनुभव था, बेचारी भोली-भाली राजकुमारी क्या जाने? परतु, प्रभाव यद्यपि अप्रत्यक्ष है फिर भी स्थायी है। राम जी तो अपनी दशा का अनुभव कर लक्ष्मण से वार्ता करते हुए चल भी दिए और यहाँ वही एक प्रकार-के रुकने की हालत बनी हुई है। हाँ, राम जी के हटते ही किसी चीज के खो जाने का सा

हुए कहा था कि "दोनों राजकुमारों के ख्याल को क्यों लाते हो? गए, क्रिया को सम्मानार्थ समझो बहुवचन नहीं। फिर प्रेमिका के प्रति सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग समीचीन ही है।" मुझे कुछ संदेह अवश्य हुआ। पर दूसरी ही चौपाई में 'श्यामल गौर' दोनों साफ मौजूद हैं, अत ये सदेहनिवृत्ति के लिए काफी थे। फिर एक चौपाई के बाद 'थके नयन रघुपति छवि देखी' को पढते हृदय स्पंदित होकर महसा बोल उठा कि इस स्थान से ही प्रेम का अंतर सूचक अनुभव शुरू हुआ है।

[३] 'चहूँदिसि'—पहले जब रामजी की खोज थी तब 'सकल दिसि' के शब्द प्रयुक्त हुए थे। कारण, भय था कि कहीं विष्णु (परमात्मा) के अवतार आकाश पर न उड गए हों, या पाताल को न चले गये हों। पर अब आँखें उन्हे देख चुकी हैं। दिल को कम से-कम इतना ढाढस है कि चारों ओर ही दृष्टि दौडती है। मानों वह कहता है कि हैं 'वे' इसी लोक मे, आँखो की ओट भले ही हों। किसी पेड-पौदे या वेल बूटे की आड में होंगे। पर हाय, हैं कहाँ? नजर को हैरानी, दिल को हैरानी है। निराकार से साकार होकर भी यह परदा क्यों है?

पर पाठकगण, तनिक ठहरिए। अभी इतनी आध्यात्मिक उडान पर न जाइए। वह तो मैंने केवल संकेत की रीति पर बतलाया है कि शृंगार में भी तुलसीजी आध्यात्मिक कल्पना को सदैव अप्रकटत स्थिर रखते हैं। अस्तु, साधारण शृंगार के

प्रयोग बाहुल्य हुआ, कि शृ गार रस पूर्णत. जाता रहा।) चकित दशा में सामने है।

(ब) परन्तु शब्द योजना के विचार से 'मन' और 'चित्त' ऐसा मजा दे जाते हैं जिसे दिल जानता है, पर जबान नहीं कह सकती।

[२] 'चकित' (अ) इसमें हृदय की इस हैरानी के सिवा कि राजकुमार किधर गए नेत्रों के चारों ओर फिराने का चित्र भी है। कारण 'चकित' वस्तुत 'चक्रित' का लघुरूप है, जिसके अर्थ हैं 'गोल' 'वा चारों ओर'।

(ब) कैसा छोटा-सा शब्द है। अभी एक राजकुमारी ने दो मनोमोहक मूर्तियों को सौंदर्यानुभव (Aesthetic faculty) के विचार से अवलोकन किया है और फिर वे मूर्तियाँ आँखों की ओट हो गई। राजकुमारी हैरान (चकित) है कि ये दिल चुराने वाली सूरत किधर गई। और इसीलिए तो अभी युगल राजकुमारों का प्रभाव सीता पर है। वास्तविक प्रेम का प्रारंभ होते ही दो में से एक ही रह जायगा। सहृदय पाठक! देखा आपने द्वैत तथा अद्वैत के विश्लेषण को? द्वैत तो केवल सौंदर्यानुभव तक परिमित है और प्रेम में अद्वैत के अतिरिक्त कुछ नहीं। यह तुलसीदास प्रभृति महाकवि का ही काम है कि इन सूक्ष्म बातों का खयाल रक्खें और उन्हें क्रम से दिखलाते जायँ।

एक बार मेरे एक मित्र ने उपर्युक्त व्याख्या पर आक्षेप करते

हुए कहा था कि "दोनों राजकुमारों के ख्याल को क्यों लाते हो? गए, क्रिया को सम्मानार्थ समझो बहुवचन नहीं। फिर प्रेमिका के प्रति सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग समीचीन ही है।" मुझे कुछ संदेह अवश्य हुआ। पर दूसरी ही चौपाई में 'श्यामल गौर' दोनों साफ मौजूद हैं, अत ये संदेहनिवृत्ति के लिए काफी थे। फिर एक चौपाई के बाद 'थके नयन रघुपति छवि देखी' को पढते हृदय स्पंदित होकर सहसा बोल उठा कि इस स्थान से ही प्रेम का अंतर सूचक अनुभव शुरु हुआ है।

[३] 'चहूँदिसि'—पहले जब रामजी की खोज थी तब 'सकल दिसि' के शब्द प्रयुक्त हुए थे। कारण, भय था कि कहीं विष्णु (परमात्मा) के अवतार आकाश पर न उड गए हों, या पाताल को न चले गये हों। पर अब आँखें उन्हें देख चुकी हैं। दिल को कम से कम इतना ढाढस है कि चारों ओर ही दृष्टि दौड़ती है। मानों वह कहता है कि हैं 'वे' इसी लोक में, आँखों की ओट भले ही हों। किसी पेड़-पौधे या बेल-बूटे की आड में होंगे। पर हाय, हैं कहाँ? नजर को हैरानी, दिल को हैरानी है। निराकार से साकार होकर भी यह परदा क्यो है?

पर पाठकगण, तनिक ठहरिए। अभी इतनी आध्यात्मिक उडान पर न जाइए। वह तो मैंने केवल संकेत की रीति पर बतलाया है कि शृंगार में भी तुलसीजी आध्यात्मिक कल्पना को सदैव अप्रकटत स्थिर रखते हैं। अस्तु, साधारण शृंगार के

प्रयोग बाहुल्य हुआ, कि शृंगार रस पूर्णत. जाता रहा।) चकित दशा में सामने है।

(ब) परन्तु शब्द योजना के विचार से 'मन' और 'चित्त' ऐसा मजा दे जाते हैं जिसे दिल जानता है, पर जबान नहीं कह सकती।

[२] 'चकित' (अ) इसमे हृदय की इस हैरानी के सिवा कि राजकुमार किधर गए नेत्रो के चारों ओर फिराने का चित्र भी है। कारण 'चकित' वस्तुत' 'चक्रित' का लघुरूप है, जिसके अर्थ हैं 'गोल' 'वा चारों ओर'।

(ब) कैसा छोटा-सा शब्द है। अभी एक राजकुमारी ने दो मनोमोहक मूर्तियों को सौंदर्यानुभव (Aesthetic faculty) के विचार से अवलोकन किया है और फिर वे मूर्तियाँ आँखों की ओट हो गई। राजकुमारी हैरान (चकित) है कि ये दिल चुराने वाली सूरत किधर गई। और इसीलिए तो अभी युगल राजकुमारों का प्रभाव सीता पर है। वास्तविक प्रेम का प्रारभ होते ही दो में से एक ही रह जायगा। सहृदय पाठक! देखा आपने द्वैत तथा अद्वैत के विश्लेषण को? द्वैत तो केवल सौंदर्यानुभव तक परिमित है और प्रेम मे अद्वैत के अतिरिक्त कुछ नहीं। यह तुलसीदास प्रभृति महाकवि का ही काम है कि इन सूक्ष्म बातों का खयाल रक्खें और उन्हें क्रम से दिखलाते जायँ।

एक बार मेरे एक मित्र ने उपर्युक्त व्याख्या पर आक्षेप करने

हुए कहा था कि "दोनों राजकुमारों के ख्याल को क्यों लाते हो? गए, क्रिया को सम्मानार्थ समझो बहुवचन नहीं। फिर प्रेमिका के प्रति सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग समीचीन ही है।" मुझे कुछ संदेह अवश्य हुआ। पर दूसरी ही चौपाई में 'श्यामल गौर' दोनों साफ मौजूद हैं, अत. ये संदेहनिवृत्ति के लिए काफी थे। फिर एक चौपाई के बाद 'थके नयन रघुपति छवि देखी' को पढते हृदय स्पंदित होकर सहसा बोल उठा कि इस स्थान से ही प्रेम का ग्रन्तर सूचक अनुभव शुरू हुआ है।

[३] 'चहूँदिसि'—पहले जब रामजी की खोज थी तब 'सकल दिसि' के शब्द प्रयुक्त हुए थे। कारण, भय था कि कहीं विष्णु (परमात्मा) के अवतार आकाश पर न उड गए हों, या पाताल को न चले गये हों। पर अब आँखें उन्हें देख चुकी हैं। दिल को कम से-कम इतना ढाढस है कि चारों ओर ही दृष्टि दौडती है। मानो वह कहता है कि हे 'वे' इसी लोक में, आँखों की ओट भले ही हों। किसी पेड-पौधे या बेल बूटे की आड मे होंगे। पर हाय, हैं कहाँ? नजर को हैरानी, दिल को हैरानी है। निराकार से साकार होकर भी यह परदा क्यों है?

पर पाठकगण, तनिक ठहरिए। अभी इतनी आध्यात्मिक उडान पर न जाइए। वह तो मैंने केवल संकेत की रीति पर बतलाया है कि शृंगार मे भी तुलसीजी आध्यात्मिक कल्पना को सदैव अप्रकटत स्थिर रखते हैं। अस्तु, साधारण शृंगार के

वह जो कमसिन हैं, श्रदायें हैं निराली उनकी
इस पै मचले हैं कि हम दर्दे-जिगर देखेंगे।

और यह भी दोनों राजकुमार दिल चुराकर नजर से ओझल हैं। वफा दर्दे-जिगर देखना अभीष्ट है ? नहीं-नहीं । यहाँ वैसा शृंगार नहीं जिसमें जान बूझ कर सदाचार से बाहर वाली छेड़-छाड़ हो। रामजी भाई से बातचीत करते हुए उपर्युक्त सीमा के विचार से विवशतः हट गए हैं। अगर कुछ दर्दे-जिगर (शब्द कटु है) है भी, तो उतना ही आकस्मिक और स्वाभाविक जिसे न देखना मजूर, न दिखलाना। आकस्मिक क्रियाओं का भाव भी अधिक सूक्ष्म है, पर कुछ वैसा ही।

मनचीता—प० रामेश्वर भट्ट ने पहले 'चीता' का अर्थ 'चाहे गये' किया है, पर अन्ततोगत्वा नोट में यह लिख दिया है कि 'चीता' 'चिता' का अपभ्रंश भी हो सकता है और यह अर्थ हो सकता है कि दिल में हैरानी पैदा करने वाले राजकुमार कहाँ गए ? मेरे विचार में दूसरा अर्थ अधिक समीचीन है । क्योंकि उस समय 'चकित' के साथ यही भाव अधिक स्पष्ट है। फिर 'चाहे गए' में लक्ष्मण कैसे शामिल हो सकते हैं ?

'चीता' का अनुप्रास अन्य शब्दों के साथ कितना सुंदर है। मानों वे सभी शब्द 'चितवत चकित चहूँ दिसि' इस '(मन) चीता' के लिए ही बने हैं। शब्द योजना भी पहले दो और अंतिम शब्द में बहुत ही सरस है। तनिक देर के लिए यमकालंकार का

भ्रम उत्पन्न कर मानों 'चितवत' को 'चीता' 'चित' से ही व्युत्पत्ति प्रतीत होने लगती है।

भट्ट जी ने व्याकुलता के तीन कारण लिखे हैं। (१) 'कहाँ गए ?' की स्वाभाविक व्याकुलता, (२) सखियों से भेद छिपाने की व्याकुलता और (३) राजा के प्रण की व्याकुलता। पर अंतिम व्याकुलता के कारण का राजकुमारों से कोई सीधा संबंध नहीं है। इसमें यहाँ इस व्याकुलता का प्रयोजन स्पष्ट नहीं जान पड़ता, यद्यपि गौण रूप से तो व्याकुलता के अनेक कारण हो सकते हैं। अत इस समय सामयिकता एवं प्रेम-स्फुटन की आकस्मिकता के विचार से पहला ही कारण बहुत ठीक है।

यहाँ एक विशेष सौंदर्य भी है। व्याकुलता के प्रकट एवं अप्रकट कारण सीता के हृदय में इतनी देर तक कायम रहे कि अंतत अपने हृदयस्थ व्याकुलता को अनोखे और अछूते शृंगारी ढंग पर अपने प्रेम पात्र का विशेषण बना कर ही छोड़ती है।

मन—उभयपक्ष के विचार से शृंगार के सभी प्रभाव मन तक ही महदूद रक्खे गए हैं। अगर मन से गुजर कर बुद्धि तक पहुँच होती तो नैतिक बंधनों का अस्तित्व ही न रह जाता। तब क्या आश्चर्य था कि आत्मा का नितांत पतन ही होकर रहता। विपाक्त सांसारिक प्रेम के प्रभाव से प्राय ऐसा हुआ भी करता है।

चीता—आह, तुलसी की-सी विश्लेषणात्मक बुद्धि मुझ में कहाँ ? पाठकवर्ग, मेरी बेपरवाही तो आपने देखी कि मैं बराबर

अपनी व्याख्या में 'दिल' के साथ, 'चुराने' का शब्द ही प्रयुक्त करता चला आया हूँ। दिल को चुरा लेना और विशेषत. सीता जैसी पवित्र कन्या के दिल को चुरा लेना कोई साधारण बात नहीं है। यह साधारण शृंगार की कविता नहीं है कि 'जिसको देखा उसी पर मरने लगे।' एक हिंदी कवि ने भी आवेश में आकर सीता के मुख से धनुपयज्ञ में ऐसा कहला दिया है कि 'मैं' तो राम को ही व्याहूँगी, धनुप टूटे तो क्या और न टूटे तो क्या ? पर सीता ऐसी कच्ची मिट्टी की बनी मूर्ति नहीं है कि तनिक ठेस से टूट जाय। यद्यपि नारद की भविष्य वाणी के स्मरण से प्रेमोत्पत्ति हो चुकी है, और इस कारण चिंता भी स्वाभाविक ही है, पर क्या मजाल कि दिल हाथ से निकल जाय। व्याकुलता की पराकाष्ठा की दशा में भी तुलसीदास ने सीता से जो शब्द कहलाए हैं वे ये हैं कि महाराजा जनक की सभा में बुद्धिमानों के होते हुए भी यह अंधेर हो रहा है। वह तो व्याकुलता की दशा में निर्जीव धनुप से विनय करने तक के लिए उद्यत हो जाती है, पर ऐसे विचार का लेश भी नहीं कि पिता का प्रण निभे वा न निभे परंतु मेरी कामनाओं की पूर्ति अवश्य हो। यह है हिंदू रमणियों की सहृदयता जो पति से एक बार सयुक्त होने पर फिर उस से आयु पर्यंत वियुक्त होना नहीं चाहतीं, प्रत्युत मरण के पश्चात् भी अपना सबध सुस्थिर रखने की अभिलाषा रखती हैं।

जहँ बिलोक मृग-सावक नयनी, जनु तहँ बरस कमल-सित-स्रेनी ।

यह चौपाई भी काव्यकला का एक चमत्कार है । कैसी दो रुखी तस्वीर है । वस्तुत ऐसा सूक्ष्म और सुदर चित्रण तुलसीदास ही कर सकते हैं । देखिए, 'चकित चितवन' में सिर्फ दिल की बेचैनी नहीं है, बल्कि कुछ लुत्फ भी है । करुणा में भी रस होता ही है । अस्तु—

मैंने उपर्युक्त चौपाई मे दो रस का होना कहा है । जो रुख मुझे अधिक पसद है, पहले उसी की व्याख्या करता हूँ । जिस समय पहले पहल सीता और राम की आँखे चार हुई थी, तो इमके पूर्व कि सीता की आँखें लज्जा से झुक गई हों और वह स्वय निस्तब्धता की दशा में होकर राम की आँखों के लिए 'सिय मुख ससि भये नयन चकोरा' हो गई हों, राम की आँखें उनकी आँखों में बस गई होंगी—जरूर बस गई होगी । जब वह निस्तब्धता तनिक दूर हुई और आँखों मे खोज की चचलता पैदा हुई, तो वही राम की श्वेत कमल जैसी आँखें चारों तरफ दिखाई देती हैं । मानो जिधर नजर उठती है वही श्वेत कमलो की वर्षा सी होती दिख रही है । यह नितात स्वाभाविक भी है । किसी चीज के आँख मे समा जाने के बाद अगर आप आँखों को अन्यत्र फेरें भी तो कुछ उसी आकार के गोल टुकडे हर तरफ उडते हुए नजर आते है । फिर इतने प्रबल प्रताप का होना तो इस बात से विदित ही हैं कि आँखें 'नृप किसोर मन चीता' की ही खोज कर रही हैं ।

कैसी सुंदर काव्य कल्पना है। राम की आँखों का श्वेतकमल की माला बनकर चारों ओर बरसना कविताजन्य अमृत की वर्षा से कम नहीं है।

स्मरण रहे कि हिंदी कविता के विचार से प्रेमिका की आँख में तीन रंग अनेक अनेक प्रभावों के साथ होते हैं। श्वेतरंग का प्रभाव है अमृत अर्थात् जीवन का, लालरंग का प्रभाव है मदिरा अर्थात् मस्ती का, और सिर्फ श्याम रंग का प्रभाव है विष अर्थात् मृत्यु का। कैसा सुंदर संकेत है कि केवल अमृत वाले अंश का प्रभाव सीता पर है। और फलतः वह प्रेम, जो सीता में है, उनके अमरत्व का कारण है। दूसरी बात यह भी है कि अभी जिस समय सीता जी ने राम जी को देखा है, तब वह प्रेम के प्रभाव में सुर्ख भी न हुई थी। क्योंकि दृष्टि पड़ते ही तो सीता की आँखें लज्जा से झुक गई होंगी। नेत्ररूपी 'कैमरे' में जो प्रतिबिंब पड़ा है उसमें अभी आँखों के लाल डोरे नहीं थे। हाँ, तनिक देर बाद ऐसा हुआ था। क्योंकि तनिक ही आगे चलकर कुंज से निकलने के पश्चात् का जो रूपक बाँधा गया है उसने राम की आँखों के लिए लिखा है 'नव सरोज लोचन रतनारें', इन प्रेम के सूक्ष्म प्रभावों तथा अनेक अंतरात्मक श्रेणियों का क्रम से रखना तुलसीदास की कविता का कमाल है। किसी शृंगारी उड़ान में कल्पना के एक अंश को आकाश पर पहुँचा देना उसमें सहल है कि संपूर्ण श्रेणियों

अपनी सम्पूर्ण सूक्ष्मताओं के साथ क्रम से दिखलाई जावें।

आह, अगर समूचा चित्र खिंच गया होता तो खोज बंद हो जाती जैसा कि आगे जब सीता जी ने महाराज रामचंद्र को आँख भर कर देख लिया तो आँखें बंद कर लीं, और ऐसी ध्यान-मग्ना हो गईं कि नेत्रों का खुलना सखियों के लिए भी एक मुश्किल बात बन गई। इसी कारण तो तुलसीदास ने सीता की आँखों में केवल प्रेमपात्र की आँखों का चित्र बनाया है कि खोज की लालसा-पूर्ण मंजिल में कुछ अधिक सरसता आजावे। फिर शृंगार में 'आँख लड़ना' पारस्परिक दर्शन का पहला दर्जा समझा जाता है। न जाने आँख को आँख के लिए कैसा चुम्बकीय आकर्षण होता है। मित्रवर 'सेहर' अपनी मसनवी शकुंतला में कहते हैं—

किसी दुश्मनेजाँ से लड़ गई आँख, काबू में जो अब नहीं रही आँख।
हैराँ जो किसी के हुस्न से है, या होके बनी है आरसी आँख।

कुछ वैसा ही आँख लड़ने का दृश्य यहाँ भी है। अगर 'दुश्मने जाँ' नहीं प्रत्युत अधिक से अधिक 'मन चीता' से आँख लड़ी है। आँख यहाँ भी काबू में नहीं है। बल्कि तलाश में फिर रही है और देर बाद जब प्रेमपात्र को देखने का कार्य पूर्ण हो जायगा—तो सीता की आँखें भी हैरानी से या होके (खुलके) 'आरसी बनेंगी'—'पलकन्हूँ परिहरिय निमेषी'। कविवर बिहारीलाल का भी यह एक प्रसिद्ध दोहा है—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत खिलत, लजियात।
भरे भवन में करत है, नयनन ही सों बात॥

जिसमें कुशल कवि ने केवल आँखों के संकेतों से अनेक भावों को प्रकट करते हुए प्रेमिक प्रेमिका की वार्ता दिखलाई है, और लोगों की मौजूदगी में लज्जा को क़ायम रखते हुए वार्ता के एक अत्यंत सुंदर दृश्य को 'गागर में सागर भरते हुए' बाँधा है।

तुलसीदास जी भी पहले आँखों का ही आकर्षण दिखलाते हैं। पर नीति के विचार से आँखों का लड़ना और उनका सांकेतिक वार्तालाप नहीं दिखाते, जिनका केवल धनुपयज्ञ में उल्लेख है—

प्रभुहिं चितै पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल।

और इसके पश्चात् रामजी के लिए भी लिखा है—

देखी विपुल विकल बैदेही, निमिष बिहात कलप सम तेही।
श्रम जिय जानि जानकी देखी, प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी॥

किंतु वहाँ भी आँख मिचौनी का दृश्य दिखलाते हुए उनके नेत्रों को पारस्परिक वार्तालाप से पृथक् ही रक्खा है। हाँ, जब सहसा आँखें लड़ ही जायँ, तो दूसरी बात है। अन्यथा विचार पूर्वक जब एक देखता है तो दूसरे की दृष्टि अन्यत्र ही होती है। यही बात आदि से अंत तक कायम रक्खी गई है।

अब दूसरा रुख यह है कि पहले चौपाई में कवि ने सीता की हैरानी और उनकी 'चकित चितवन' का चित्र खींचा था। अब उसी चित्र मे मानों शृगार का रग भरा जा रहा है। मनोहर राजकन्या की दृष्टि शीघ्रता से चारों ओर तलाश में दौड रही है और साथ ही उसकी अल्पवयस्का मृगी की सी आँखे भी उसी प्रकार चचल हैं। फिर, क्योंकि उनका रग श्वेत कमल के सदृश है अत ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ जहाँ देखती है वहाँ वहाँ श्वेत कमल की वर्षा हो रही है। यदि आप किसी लट्टू को तेजी से घुमावें तो दो बातें अवश्य देखेंगे। एक तो सिर्फ जो रग विशेषत अधिक है, वही नजर में रह जायगा। दूसरे लट्टू पृथक् न जान पडेगा, प्रत्युत लट्टू की एक माला सी चारों ओर घूमती नजर आवेगी। ठीक वही बातें तुलसीदास जी यहाँ दिखलाना चाहते हैं। इसी लिए कमल की श्रेणी बाँधा है और उधर केवल श्वेत कमल के रग से उपमा दी है।

श्वेत रग की उपमा से मानों इस रुख में सीता जी के अदर अभी केवल सौंदर्यानुभव के अमृतजन्य माधुर्य को दिखलाया है, वा अधिक से अधिक गौण रीति पर प्रेम का ही वैसा माधुर्य समझिए। अभी यहाँ भी लाल रग के डोरे नहीं हैं अर्थात् प्रेम की मादकता का पता नहीं है। फिर मेरे विचार में तो यह लाल रग वाली मादकता सीता के सबध से धनुषयज्ञ मे भी

नहीं दिखलाई गई। क्योंकि वहाँ भी धनुषयज्ञ से पहले जो अंतिम चित्र सीता का खींचा गया है, उसमें आँखों को दो मछलियों की तरह सीता के 'मुख रूपी चंद्र' में खेलती हुई बाँधा है। यह अंतर भी विचारणीय है। राम जी पुरुष हैं। उनका प्रेम शीघ्र उत्पन्न होता है और उसमें मादकता का होना भी संभव है। पर सीता जी प्रभृति पवित्र एवं सरलमना राजकन्या में प्रेम को सिर्फ हैरानी की बेबसी तक सीमित रक्खा गया है। विदेह की कन्या के लिए स्वाभाविकतया इसी कदर ठीक भी है। यदि निमग्नता है तो भी अमृत की, मदिरा की नहीं। इस शृंगार की रंगामेज़ी में (रंगामेज़ी तो दोनों रुखों में है) प्रत्येक वस्तु का रंग ही दूसरा हो गया है। 'चितवति से विलोकि में कैसी सुंदर उन्नति है। सीता अब 'मृग-सावक-नयनी' बन गई है। तनिक विचारपूर्वक ध्वन्यात्मक रचना कर आनंद उठाइए। ऐसे स्वर ('र' की आवृत्ति के साथ) प्रयुक्त हुए कि चरण के चक्र और कमल के क्रम का ध्वन्यात्मक मानचित्र भी स्वतः उपस्थित हो जाता है।

मैं नहीं कह सकता कि वस्तुतः तुलसीदास जी की दृष्टि इन दोनों रुखों में से किस पर थी। पर मुझे पहला रुख इस कारण अधिक रुचिकर प्रतीत होता है कि तद्द्वारा सीता जी की आँखों के चित्र के साथ उनमें बसी हुई आँखों का चित्र भी सामने आ जाता है। मानों शृंगार की 'दो आतशी शराब' तैयार हो जाती है।

इसके रुख में तो सिर्फ एक रखी तसवीर ही रहती है। इसके अतिरिक्त यह कि हम राम को (जिनकी खोज मे सीता जी व्याकुल हैं) तलाश करने की जगह केवल सीता जी के सुदर एव चकित चित्र के देखने में ही सलग्न हो जाते हैं जो कवि का तात्कालिक प्रयोजन नहीं हो सकता। फिर कौन जाने कि तुलसीदास की विस्तृत दृष्टि दोनो रुखों पर साथ साथ रही हो कि सीता जी तो राम की खोज में और उनकी आँखो मे राम की आँखें बसी हुई, और हम सीता जी के दर्शन मे व्यस्त और हमारी दृष्टि में सीता के नेत्र रूपी श्वेत कमल की माला फिरती हुई। पर यहाँ मुझे यह भी कहना है कि सीता जगत् जननी है और इस कारण तुलसीदासजी उनके किसी अवयव विशेष पर हमारी दृष्टि को इतनी देर तक नहीं ठहराना चाहेंगे। यही कारण है कि सीता जी का सर्वांग चित्रण रामायण भर मे कहीं नहीं है। केवल वनोवास में राम जी के मुख से कुछ कहलाया है, पर वह भी उपमाओं के रूप में। इससे मुझे निश्चय है कि तुलसीदास जी ने यह चौपाई पहले रुख को दृष्टि में रखते हुए लिखी है।

'श' 'स' 'ल' के माधुर्य का ध्वन्यात्मक रूप भी कैसा मनोहर है। ये चौपाइयाँ माधुर्य गुण की अनोखा मिसालें हैं।

'वरस' का शब्द है कि अमृत की वास्तविक वर्षा है।

'जनु' शब्द से उपमा का पुन प्रारभ होता है। इसी कारण

तो उसे सपूर्णत उत्पन्न करने मे विचारशक्ति को एक सु दर सीमा तक प्रयत्न करना पडता है।

'शावक' के साथ सीता के भोलेपन की याद दिलाकर कैसी पवित्रता पैदा की गई है। आँखें भी सु दर सरसता का सचार कर रही हैं।

लता ओट तब सखिन लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए॥

स्मरण रहे कि सीता जी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। उनके नेत्रों की व्याकुलता से ही सखियाँ उनके दिल का हाल जान लेती हैं। 'कहँ गए नृपकिसोर मन चीता'—ये शब्द भी अधिक-से-अधिक सीता जी की हृदय रूपी जिह्वा के ही हैं। नहीं, नहीं, प्रत्युत कवि ने उनकी व्याकुल चितवन की व्याख्या की है। यदि आप इन शब्दों को सीता की हृदय रूपी जिह्वा के शब्द भी मानें, तो भी राम और सीता की हृदय रूपी जिह्वा के विवरणों की तुलना एक सरस साहित्यिक समस्या है। एक ओर काव्य कल्पना और हार्दिक अनुभव के साथ प्रेमिका के रूप गुण की सु दर व्याख्या तथा उनके अद्वितीय होने की स्वीकृति, और दूसरी ओर केवल थोडे शब्दो मे नन्हे दिल की व्याकुलता का दृश्य। एक ओर भ्राता से सुस्पष्ट वार्ता और दूसरी ओर शब्दो का जिह्वा पर आना मुश्किल! एक ओर अपनी अकृतियों एव क्रियाओं की स्वकीय व्याख्या और दूसरी ओर शब्दो की जगह केवल दशा के हृदयस्थ भावों का

आकस्मिक प्रकटीकरण। एक ओर कुछ न-कुछ स्वाधिकार और दूसरी ओर भावावेश में थोड़ी देर के लिए कठपुतली-सी बनकर सखियों के सकेतों पर चलना और उन्हीं के कथन मे अपने भावो को समझना। फिर पैरों की गति का भी बद हो जाना, निस्तब्धता की दशा पर नेत्रों मे व्याकुलतामयी चचलता का शेष रहना इत्यादि, इत्यादि।

सखियाँ तुरत ताड जाती हैं कि खोज किसकी है। परेशा निगाहे किधर दौड रही हैं। कवि राजकुमारों को बेल बूटों में छिपा देता है कि हैरानी और बढे, खोज मे भावावेश उत्पन्न हो, हृदय मे प्रेम का परिपकता मिले और रगमच पर आँख मिचोनी का दृश्य दिखाई दे। पाठकों का दिल बार बार यह देखकर कितना लुत्फ उठा रहा है कि देखो वह उसी ओर सीता की नजर गई, अब राम अवश्य दिखलाई पडेगे। पर कदाचित् भावावेश के कारण व्याकुल दृष्टि चूक जाती है कि राम उसी बेल के पीछे ही तो हैं, पर सीता उनको नहीं देख पाती। आइए, एक आवरण और है, जो अभी बतलाया जा चुका है। वह है कमल दल के रूप मे सीता की आँखों में बसी हुई राम की आँखें, जो देखने पर चारों ओर बरसती मालूम होती हैं।

लता ओट—तुलसीदास प्रकृति से सिर्फ नाटक के पर्दे का ही काम नहीं लेते, प्रत्युत उसे भावोत्पत्ति का एक साधन बना देते हैं और मनुष्य एव प्रकृति को ऐसा एक दूसरे के साथ लपेट

यहाँ एक बात और विचारणीय है। पहले 'सग सखी सब सुभग' और 'पूछहि सब मृदु बैन' इत्यादि में 'सब' पर विशेष बल दिया गया था, जो अब यहाँ नहीं है। कारण कि उसी एक सखी के अतिरिक्त जिसने राम को पहले ही देखा था और जो अभी तक निमग्नता की दशा में थी, शेष सभी सखियाँ एक ही भाव के अधीन थीं। अब राम के देखने के पश्चात् कोई तो (प्रेम विवश) प्रेमोन्माद से प्रमत्त होगी, कोई निमग्नता की दशा में अचेत होगी, कोई सोचती होगी कि सीता को राम किस प्रकार मिलें इत्यादि। अत इसी ख्याल से 'सब' का शब्द चौपाई मे नही रक्खा गया।

लखाए—यह शब्द सकेत के लिए कितना समीचीन है। आह, परेशान निगाहें बार बार चूक जाती रही होंगी। इसी कारण सखियों को लखाने की जरूरत है। ज्यादा परेशानी में आँख के सामने की चीज दिखाई नहीं देती। फिर लता ओट होने में तो और भी मुश्किल है।

वियोग मे अभिलाषा, स्मृति और चिंता—ये तीन दशाएँ हुआ करती हैं। उपर्युक्त पक्तियों में इन्हीं तीनों दशाओं का राम के 'लता ओट' जनित वियोग में दिग्दर्शन हुआ है।

श्रीकृष्ण

[श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे]



संसार में अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए, हो रहे हैं और आगे भी होंगे, पर अब तक जो हुए हैं, उनमें कोई भी ऐसा नहीं है, जिसके साथ श्रीकृष्ण की तुलना की जा सके। भारतवर्ष में भगवान् बुद्धदेव जैसे सर्व-संग परित्यागी धर्मोपदेशक, परिव्राजकाचार्य्य श्रीमत् शंकराचार्य्य जैसे धर्म-संस्थापक, राजा हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी, दधीचि जैसे आत्म-त्यागी, शिवाजी जैसे गो ब्राह्मण प्रतिपालक, स्वराज्य स्रष्टा, गुरु गोविंदसिंह जैसे धर्म-वीर आदि असंख्य महात्मा और प्रतापी पुरुष हुए। अन्य देशों में भी ईसा और मुहम्मद जैसे धर्म-संस्थापक, हैनिबाल जैसे महाप्रतापी दिग्विजयी योद्धा, वाशिंगटन जैसे उदार चरित्र, अब्राहम लिंकन जैसे परम निस्पृह विश्व बंधु आदि अनेक असंख्य महापुरुष अवतीर्ण हुए, पर इनमें से कोई भी ऐसा नहीं हुआ, जिसका चरित्र श्रीकृष्ण के समान सर्वांगीण हो। कोई धर्म-संस्थापक था, कोई वीर था, कोई त्यागी था, कोई परम भक्त था, कोई विश्व बंधु था, कोई स्वराज्य संस्थापक था, पर सब बातें एक साथ किसी में नहीं थीं। इसीलिए श्रीकृष्ण के साथ इनमें से

उससे यह मालूम होता है कि जरासंध को अपने बल का बड़ा अभिमान था और वह सर्वत्र अपने ही राज्य का विस्तार करना चाहता था। उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए राज्यों में पहली बात जो हम देखते हैं वह यही है—अपने बल का गर्व और लोभ। चेदिदेश के राजा शिशुपाल आदि और भी अनेक गर्विष्ट राजा उस समय मौजूद थे। प्राग्ज्योतिष का राजा जैसा बलवान था, वैसा ही विलासी और दुराचारी भी था। उसने अपने राज्य मे ऐसा दुराचार आरंभ किया था कि अपने विलास-भोग के लिए सोलह हजार एक सौ सुंदरी कुमारियाँ चुनकर अपने रंगमहल मे ला रखी थीं। दूसरी बात यही विलासिता और अनाचार है। तीसरी बात—कंस के दरबार में यह अत्याचार देखा जाता है कि उसने अपने पिता, परम नीतिवान महाराज उग्रसेन को कैद कर राजगद्दी पाई थी और वह प्रजा पर असह्य अत्याचार कर रहा था। चौथी बात—पांचाल देश मे कौरव पांडवों का भयंकर अंत:कलह है। इस अंत:कलह के साथ साथ विलासिता, दुराचार और अमानुपी अत्याचार तथा सत्यानाशी गर्व की मूर्तियाँ भी मौजूद थीं। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस समय इन स्वतन्त्र हिंदू राज्यों की ऐहिक उन्नति पराकाष्ठा को पहुँची हुई थी, पर इन राज पुरुषों का चरित्र भ्रष्ट हो चुका था। जब राजा तथा राज-पुत्रों का ही चरित्र भ्रष्ट हो, तब प्रजा कहाँ से सुखी हो

सकती है ? इसीलिए प्रजा को दु ख था और पृथ्वी के लिए यह पाप का बोझ असह्य हो उठा था ।

जिस समय श्रीकृष्ण पैदा हुए, उस समय राज्य-सूत्र अधर्मी राजाओं के हाथ मे था, चतुर्वर्ण्य-व्यवस्था बिगड गई थी, स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों का मोक्ष का अधिकार भी नहीं माना जाता था, क्योंकि वे सदा ससार मे रत रहते थे और धर्म परायण पुरुषों की इतनी अधिक उन्नति हुई थी कि त्यागियों का एक अलग समाज ही स्थापित हो गया था और वे लोग राज काज से अलग हो गए थे। इस तरह प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों की आत्यतिक उन्नति हो गई थी। एक ओर अधर्म की प्रबलता थी तो दूसरी ओर धर्म की, पर अधर्म को मारकर धर्म को राजगद्दी दिलानेवाला कोई नही था। इसी हेतु को सिद्ध करने के लिए श्रीकृष्ण का अवतार हुआ।

जिस समय श्रीकृष्ण का जन्म हुआ उस समय सर्वसाधारण लोगों के विलक्षण भाव के लोग अधर्म का प्रतिकार यथाशक्ति कर रहे थे। इस काम मे आत्मबलिदान की सीमा हो चुकी थी। वसुदेव के छ बच्चों को कस ने मार डाला था। प्रजा का मन सतप्त और क्षुब्ध था और सब मना रहे थे कि किसी तरह इन अधर्मियों के राज्य का सत्यानाश हो।

भाद्र कृष्ण अष्टमी की रात को रोहिणी नक्षत्र में आकाश से पर्जन्यवृष्टि और विद्युल्लता कडकने के साथ श्रीकृष्ण का

जन्म हुआ। रातों रात वसुदेव उस बालक को गोकुल में पहुँचा आए। गोकुल में गौओं और गोपों के बीच में उसका लालन-पालन हुआ। ये गोप कौन थे? यादव कुल के अनेक क्षत्रियों ने क्षात्रवृत्ति छोड दी थी। वे वैश्य का पेशा करने लगे थे। इस तरह ये गोप वैश्य थे और क्षत्रिय भी। इनमें अनेक शूद्र भी रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। ये गोप नगर-निवासी नहीं थे। नगरों से दूर स्थानों में ये अपनी गौओं के साथ कभी यहाँ, कभी वहाँ, इस तरह बनजारों के समान रहते थे। इनका स्वभाव सरल था, ये सहृदय होते थे, ईश्वर के अस्तित्व में इनका विश्वास था, पर इनमें आर्य सस्कृति नहीं थी—वर्णाश्रम धर्म का पालन नहीं था। ऐसे लोगों में पल कर श्रीकृष्ण बढने लगे। गोपों का निष्कपट प्रेम, वनों का स्वतत्र समीर और सरस जीवन का निष्पाप वायु-मडल—इन बातों ने सु दर शरीर-धारी श्रीकृष्ण को निष्कपट और अतुल पराक्रमी बना दिया। बचपन में ही उन्होंने शरीर-सामर्थ्य के अद्भुत पराक्रम किए। वे गोपों के प्राण थे और उन पर अपने प्राण न्यौछावर करने को तैयार रहते थे। गोप मल्ल विद्या में बडे प्रवीण थे। श्रीकृष्ण उसमें उनके अग्रणी हुए। दिन-दिन गोपों और गोपाल का बल बढने लगा। कस घबरा उठा। उसे सर्वत्र काल-रूप कृष्ण दिखाई देने लगे। जल में, स्थल में, नभ में, सर्वत्र श्रीकृष्ण की काल मूर्ति आविर्भूत होकर उसे डराने लगी। कृष्ण को मारने के लिए कस ने जाल

बिछाया, पर उसमे वह आप ही जा फँसा और अत मे मारा गया।

श्रीकृष्ण ने कस को मार कर उसका राज्य स्वय नहीं लिया। उग्रसेन को राजगद्दी पर बिठा कर वे आप एक साधारण प्रजा-जन की भाँति अपने माता पिता के पास मथुरा में रहने लगे। पर मथुरा की राज्य-क्राति से भारत में सर्वत्र श्रीकृष्ण का नाम फैल गया और उस समय जो राजा राज्य करते थे, वे श्रीकृष्ण को अपना शत्रु मानने लगे। जरासध तो आग बबूला हो गया, क्योंकि एक तो श्रीकृष्ण के रूप में उसकी अधर्म पूर्ण सार्वभौम सत्ता के लिए एक नया शत्रु खडा हो गया और दूसरे, उसका दामाद कस उन्हीं के हाथों मारा गया था। इसलिए जरासध ने मथुरा पर चढाई कर दी। मथुरा पर आए हुए इस सकट को टालने के लिए श्रीकृष्ण वहाँ से भाग गए। जरासध ने मथुरा से अपनी सेना हटा ली और कृष्ण का पीछा किया। गोमत पर्वत पर श्रीकृष्ण ने जरासध आदि की अपार सेना का जिस वीरता और रण-कौशल के साथ सहार किया, इतिहास मे उसका कहीं जोड नहीं है। इस युद्ध के पश्चात् करवीर-नरेश 'शृगाल' मारा गया यह राज्य भी श्रीकृष्ण ने स्वय नहीं लिया, बल्कि शृगाल के पुत्र को गद्दी पर बिठाकर आप और आगे बढे और एक समुद्र-वेष्टित द्वीप मे अपनी छावनी और राजधानी स्थापित की, जिसे द्वारका कहते हैं। पर श्रीकृष्ण स्वय द्वारका

के भी राजा नहीं हुए। ये सब पराक्रम कर के जिस समय श्रीकृष्ण मथुरा को फिर लौट आए, उस समय मथुरा-वासियों को यह आशा थी कि श्रीकृष्ण बड़े ठाट-बाट के साथ आवेंगे, पर श्रीकृष्ण एक साधारण गोप के भेष में ही मथुरा पहुँचे। उनका वह गोप रूप समस्त राजाओं की समवेत राज्यश्री से अधिक तेजस्वी और दिव्य था। आगे चलकर श्रीकृष्ण ने जरासंध का वध कराया, पर वहाँ भी उन्होंने उसके पुत्र सहदेव को ही राजगद्दी पर बिठाया। फिर पौंड्रक वासुदेव को मार कर उन्होंने उसका राज्य भी उसी के पुत्र को सौंप दिया। इसी तरह श्रीकृष्ण ने अपने पराक्रम की सर्वत्र धाक तो बैठा दी, पर राज्य किसी का नहीं छीना। उन्होंने कंस का वध कर मथुरा में नीति और न्याय का राज्य स्थापित किया। उन्होंने जरासंध का वध कराके राजाओं को कैद से छुड़ाया और नरकासुर का नाश करके सोलह हजार एक सौ कुमारियों को मुक्त किया, जो श्रीकृष्ण के साथ ही द्वारका में आकर रहने लगीं। इससे यह स्पष्ट होजाता है कि स्थान स्थान में राज्य क्रांति कराने में श्रीकृष्ण का कोई महान् उद्देश्य था—उसमें उनके अपने स्वार्थ का लेश भी नहीं था।

गोमत से लेकर आसाम तक सारे भारत को एक बार पादाक्रांत करके श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को भारत का सार्वभौम सम्राट् निर्वाचित करने का उद्योग किया। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ करने

का यही मतलब है। एक राजसूय-यज्ञ करके किसी को चक्रवर्ती राजा मानने की क्या आवश्यकता थी और युधिष्ठिर को यह पद क्यों दिया गया ? भारत व्यापी भिन्न भिन्न राज्यों को एक सूत्र मे बाँध कर एकता स्थापित करने का उद्योग प्राचीन काल से होता चला आया है। इस उद्योग को सब लोग एक महान् पुण्य-कर्म समझते थे। इसकी उपयोगिता आधुनिक राजनीति जिज्ञासु भी समझ सक्ते हैं। प्रिंस विस्मार्क ने जिस प्रकार जर्मनी के छोटे छोटे राज्यों को एक करके एक महान् शक्तिशाली जर्मन साम्राज्य स्थापित किया, श्रीकृष्ण का यह उद्योग भी वाह्यत उसी प्रकार का था। परतु इसमें और उसमे वडा भारी अतर इस बात का है कि इसका उद्देश्य धर्म-सस्थापन था और उसका इसके विपरीत। इसीलिए इस राजसूय यज्ञ में चेदिदेश के राजा शिशुपाल जैसे महाप्रतापी राजाओं ने पुण्य-कर्म जानकर ही योग दिया था। परतु युधिष्ठिर ही सम्राट् क्यों माने गये ? उनसे अधिक तेजस्वी और प्रतिभावन राजा भी अनेक थे। परतु युधिष्ठिर के समान धार्मिक, दयावान, न्याय-पूर्ण, सत्यवादी, सत्य प्रतिज्ञ और सत्य कर्मा दूसरा न था। युधिष्ठिर साक्षात् धर्मराज थे और इसी से धर्म-रक्षा के लिए किये जाने वाले राजसूय यज्ञ मे धर्मराज का ही राज्याभिषेक कराया गया। इस प्रकार धर्म-रक्षणार्थ साम्राज्य स्थापन का महान् उद्योग सफल हुआ। पर धर्म राज्य में अभी अनेक विघ्न थे। कस,

जरासंध आदि का वध हो चुका था, श्रीकृष्ण और पांडवों की धाक जम गई थी, युधिष्ठिर का साम्राज्याभिषेक भी कराया जा चुका था, पर भीतर ही भीतर राजाओं के षड्यंत्र चल रहे थे। श्रीकृष्ण राजसूय से लौटकर द्वारका पहुँचते हैं तो क्या देखते हैं कि वहाँ शत्रुओं ने द्वारका पर चढ़ाई करके नगर बरबाद कर डाला है। श्रीकृष्ण इधर शत्रुओं से लड़ते हैं उधर पांडव कौरवों के जाल में फँसते हैं। पांडव जुए में हारकर बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञात-वास के लिए चले जाते हैं। श्रीकृष्ण को चैन नहीं है। जिस दिन उन्होंने कंस को मारा, उस दिन से उन्हें एक क्षण भी विश्राम करने को नहीं मिला। उन्हें नित्य नये शत्रुओं का सामना करना पड़ता था, पर इससे श्रीकृष्ण के उद्देश्य का ही रास्ता साफ होता जाता है।

पांडव चले गए, दुर्योधन युधिष्ठिर के सिंहासन पर बैठा। जब वनवास और अज्ञात-वास समाप्त हुआ, तब पांडव प्रकट हुए और अपना राज्य वापस मांगने लगे। वे कम से कम पाँच ग्राम चाहते थे, पर कौरवों ने नहीं माना। श्रीकृष्ण ने मध्यस्थता की, पर कौरवों ने किसी की नहीं सुनी। तब युद्ध हुआ। इस युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हो गया। केवल दस आदमी बचे।

भारतीय युद्ध में क्षत्रियों का यह जो भयंकर संहार हुआ, उसी को बहुत से लोग भारत की वर्तमान अवनति का मूल कारण

समझते हैं। पर जिनकी ऐसी समझ है, उन्होंने श्रीकृष्ण चरित्र के रहस्य को ही नहीं समझा है। जिस समय युद्ध प्रारंभ होने को था, उसी समय अर्जुन को यह शंका हुई थी कि इस युद्ध का परिणाम बुरा होगा, क्षत्रिय कुल नष्ट हो जायगा, क्षत्राणियाँ व्यभिचारिणी होंगी और वर्ण संकरता फैलेगी, अधर्म का ही राज्य होगा, फिर धर्म कहाँ रह जायगा ? इसी शंका का समाधान करने के लिए श्रीकृष्ण ने उस समय वह दिव्य उपदेश दिया है, जो आज भी धर्म की रक्षा कर रहा है। यदि युद्ध न होता, तो क्या होता ? कौरवों का ही साम्राज्य होता। उस समय राजपुत्रों की बुरी दशा थी। धर्म की शोचनीय अवस्था थी। वास्तव में उस समय दुराचारी, लोभी और परापहारी ही राज-सिंहासनों पर विराज रहे थे। युद्ध न होता, तो इनका नाश न होता और अर्जुन को जिस बात की शंका हुई थी कि युद्ध से क्षत्रिय-कुल का नाश होकर अधर्म का राज्य होगा, वही बात उस समय युद्ध के पहले से हो रही थी और यदि युद्ध न होता, तो वह बात इतना बढ जाती कि धर्म का शायद नाम भी न रह जाता। इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया कि बुद्धि वाद छोडकर केवल अपने धर्म का पालन करो, धर्म का पालन करने से अधर्म कदापि नहीं हो सकता। और वही बात हुई। अधर्म मे रत क्षत्रिय राजाओं का युद्ध मे नाश हुआ और युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, अजात शत्रु और धर्मावतार का साम्राज्य समस्त देश मे

स्थापित हो गया। श्रीकृष्ण के जीवन का हमें यही उद्देश्य मालूम होता है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि उस समय चातुर्वर्ण्य व्यवस्था थी, स्त्रियों में पातिव्रत-धर्म पूर्णता के साथ वर्तमान था, पर चातुर्वर्ण्य व्यवस्था बिगडी हुई थी और शूद्रों, वैश्यों तथा स्त्रियो के सबध में लोगो का ऐसा ख्याल हो चला था कि इन्हें मोक्ष का अधिकार नहीं है। इसके साथ ही उपनिषदो के गहन विचारों के प्रचार से धार्मिक पुरुषो के अतःकरण पर यह दृढ सस्कार हो चुका था कि ससार से अलग होना ही मोक्ष का मार्ग है। श्रीकृष्ण ने जो धार्मिक क्राति की, वह इन्हीं विचारों से की और वह क्राति बडी ही जबर्दस्त थी। श्रीकृष्ण उन्हीं शूद्रों और वैश्यों में पले थे जिनकी समाज में कोई प्रतिष्ठा न थी। श्रीकृष्ण ने उन्हे अपना लिया और उनके सरल हृदयों मे भक्ति भाव का सचार कर दिया। वृदावन विहारी श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए गोपों की स्त्रियाँ दौडी जाती थीं और श्रीकृष्ण इन्हें भगवद्भक्ति का उपदेश देते थे। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था उन्होंने अपने अधिकार-युक्त उपदेश से फिर से बाँध दी और निवृत्ति-परायण पुरुषों को उनके सासारिक कर्तव्य और प्रवृत्ति परायण पुरुषों को उनके पारलौकिक कर्तव्य बतलाए। इस प्रकार सारे समाज को फिर से सगठित कर दिया। श्रीकृष्ण का सारा जीवन केवल सहार में ही नहीं बीता। नित्य नए शत्रुओं से सामना

करना और उन्हे स्वर्ग का रास्ता दिखा देना, यह जिस प्रकार उनका नित्य कार्य-क्रम था, उसी प्रकार धर्म का प्रचार करना, जिज्ञासुओं को वेदात के गूढ तत्त्व समझाना और भक्तों को उपदेशामृत से तृप्त करना भी उनका नित्य कार्य क्रम था। उस समय उनके मुकाबले का जिस प्रकार कोई शूरवीर योद्धा नहीं था, उसी प्रकार कोई वैसा धर्मवेत्ता और धर्मोपदेशक भी न था। श्रीकृष्ण सस्थापक थे और उन्होंने धार्मिक क्राति करके जिन धर्म सिद्धातों की स्थापना की है, उनका श्रीमद्भगवद्गीता में समावेश हुआ है। यह ग्रथ अद्वितीय है और उस धार्मिक क्राति का परिचायक है। आज भारतवर्ष मे सनातनधर्म के जो-जो सम्प्रदाय प्रचलित है, उनकी आधारभूता प्रस्थानत्रयी में श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान है। श्रीकृष्ण की इस आध्यात्मिक क्राति का प्रकाश हमे केवल साढे चार हजार वर्ष तक ही नही, बल्कि आज भी समस्त हिंदू जगत् पर प्रखरता के साथ फैला हुआ दिखाई देता है और यह कहना व्यर्थ न होगा कि जब तक हिंदू-जाति जीती रहेगी तब तक श्रीकृष्ण का धर्मोपदेश इसी प्रकार दीप्तिमान रहेगा। प्रत्युत यह भी आशा की जा सकती है कि धीरे धीरे श्रीकृष्ण का प्रकाश सारे ससार में फैलेगा, क्योंकि भगवद्गीता ग्रथ ऐसा ही अलौकिक है। लोकमान्य तिलक का ज्ञानोत्तर कर्मवाद, पूज्यपाद शकराचार्य का ज्ञानोत्तर कर्म-सन्यास और अद्वैत-वाद उसी प्रकार द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सब मतो का

आधार यही श्रीकृष्ण का उपदेश है और महात्मा गाधी का अहिसावाद भी इसी उपदेश का परिणाम है।

श्रीमद्भगवद्गीता ने ही पहले पहल स्त्रियों और शूद्रों के मोक्षाधिकार का विधान किया और सब के लिए भक्ति-मार्ग का द्वार खोल दिया है। यों तो ससार मे कोई वस्तु नई नहीं है, पर भक्ति-मार्ग के प्रवर्तक श्रीकृष्ण ही हुए हैं और आज इस मार्ग का जितना अवलम्बन होता है, उतना और किसी मार्ग का नहीं। यह मार्ग सब के लिए सुगम भी है। भगवद्गीता की यह एक विशेषता है। दूसरी विशेषता प्रवृत्ति और निवृत्ति का निमत्रण है। भगवद्गीता यह नहीं बतलाती कि ईश्वर को भूल कर या ईश्वर के नाम पर ससार के सब सुख लूटते रहो और यह भी नहीं बतलाती कि ससार को छोडकर जगल में चले जाओ। गीता यह बतलाती है कि कर्म छोडने से नहीं छूटता, कर्म करना ही पडता है। कर्म-सातत्य का अबाधित नियम बतलाकर श्रीकृष्ण फल त्याग पूर्वक कर्म करने का उपदेश देते हैं। निवृत्ति-परायण लोगों को इस प्रकार कर्म में प्रवृत्त करके श्रीकृष्ण ने समाज रक्षा की व्यवस्था की। फलाशा छोडकर कोई कैसे कर्म कर सकता है? इस शका का श्रीकृष्ण ने पूर्ण समाधान किया है। फलाशा छोड़कर कर्म करो फल तुम्हारे हाथ में नहीं है, कर्म को तुम अकेले नहीं करते—अधिष्ठान, कर्ता, कारण, प्रकृति की विविध चेष्टा और दैव, इन सबके सयोग से कर्म होता है और इन सब की

योजना करनेवाला ईश्वर ही तुम्हें कर्म में नियोजित करता है। इसीलिए उसी परमेश्वर की आज्ञा का केवल पालन करना तुम्हारा धर्म है। इसलिए परमेश्वर को सब फल अर्पण करदो। इस प्रकार ही ईश्वरार्पण बुद्धि से भक्ति-पूर्वक कर्म योग का अवलबन करना ही श्रीमद्भगवद्गीता का सिद्धात है और इस सिद्धात को श्रीकृष्ण ने अपने आचरण और उपदेश से स्थापित किया है। किसी शास्त्र का, किसी मत का, उन्होंने विरोध नहीं किया। उन्होंने सब मतों को अपना लिया और यह मत स्थापित किया कि चाहे कोई किसी मार्ग से क्यों न जाय, पर सब ईश्वर की ओर ही जा रहे हैं। इस उपदेश में वाइबिल या कुरान् की अपेक्षा कितनी अधिक उदारता है? वास्तव में श्रीकृष्ण सारे ससार के सुख के लिए ही ऐसी व्यवस्था बाँध गए हैं। श्रीमद्-भगवद्गीता में ससार के सब आध्यात्मिक सिद्धातों का विचार हुआ है और भक्ति पूर्वक ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करने का सिद्धात ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मनुष्य के मोक्ष का इतना सुलभ स्वतत्र और श्रेष्ठ सिद्धात श्रीकृष्ण ने ही स्थापित किया और धीरे धीरे ससार इसी सिद्धात की ओर झुक रहा है।

श्रीकृष्ण ने अपने जीवन में इस प्रकार धर्म-राज्य स्थापित कर एक नवीन युग प्रवर्तित कर दिया। श्रीकृष्ण ने यह लीला कलियुग के आरभ में की थी। मानो इस कलिकाल में होनेवाले

दुराचारों का दृश्य दिखाकर उन्होंने यह भी बतला दिया कि ईश्वर इस प्रकार उन दुराचारों का नाश करके सदाचार स्थापित करेंगे अधर्म का नाश करके धर्म की रक्षा करेंगे। श्रीकृष्ण-चरित्र कलियुग में ईश्वर की लीला का वर्णन है। कलिकाल में अनेक अत्याचार और दुराचार होंगे, दुष्टों का प्रभुत्व होगा और धर्म-परायण पुरुषों को बहुत कष्ट होगा। इसलिए बार-बार ईश्वर को अवतार लेने पड़ेंगे। इसीलिए श्रीकृष्ण ने स्वय प्रतिज्ञा की है कि जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ जाता है, तब तब मैं आता हूँ। साधुओं की रक्षा और दुष्टों का नाश कर धर्म स्थापित करने के लिए मैं हर युग में अवतार लेता हूँ।

भारतवासियों में अपव्यय

[श्री रामचन्द्र वर्मा]



यह एक निश्चित सिद्धात है कि जो देश या जाति उन्नति नहीं करती उसका नाश शीघ्र ही हो जाता है। विद्या, बुद्धि-बल, व्यापार, वैभव आदि सभी बातो में ससार के किसी देश या जाति से कम न रहना ही उन्नति की परम सीमा है। पर इस उन्नति का यह भी अर्थ न होना चाहिये कि वह देश या जाति सब प्रकार के कुकर्मों और पापो की खान बन जाय। एक ओर तो सब प्रकार की शक्ति और सपन्नता प्राप्त कर लेना और दूसरी ओर घोर पापों में लिप्त रहना अत्यत गर्हित और निंदनीय है। हमारे पूर्वज नैतिक जीवन की पवित्रता का महत्व भली प्रकार जानते थे, इसीलिए उन्होंने हमारे सब प्रकार के आचारो और व्यवहारों मे धर्म का पुट दे दिया था। पर अविद्या और भोगविलास में फँसे रहने के कारण हमने उनमे किसी प्रकार का परिवर्तन न करके उसे समयानुकूल बनाने की कभी चेष्टा नही की और यही हमारे विनाश का कारण हुआ।

हमारे यहा बहुत प्राचीन काल से दान की प्रथा बहुत अधिक प्रचलित है और सब प्रकार के दानों में विद्यादान का

महत्व बहुत अधिक माना गया है। अभी हाल मे मद्रास के एक विद्वान् ने यह बात भलीभाति सिद्ध की है कि पूर्व काल मे हमारे देवमदिर वडे वडे विद्यालयों और पाठशालाओं का काम देते थे। मदिरों मे बड़े बडे आचार्य और गुरु रहा करते थे जो विद्यार्थियों को अनेक प्रकार से शास्त्रों की शिक्षा दिया करते थे। प्रयाग, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार आदि के कुभ के मेलो का मुख्य उद्देश्य यही था कि एक विशेप अवसर पर और विशेप स्थान पर सारे देश के विद्वान् और महात्मा एकत्र हों, परस्पर भेट करके लोग एक दूसरे के विचारों से लाभ उठावें और देशहित के कार्यों पर विचार करें। जैसे महत्वपूर्ण कार्य इन सम्मेलनों से होते थे, वैसे आज कल की कोरी वक्तृताएँ दिलाने वाली काग्रेसों और कान्फ्रेंसों से सभावित नहीं। इन अवसरों पर जो बडे वडे दान होते थे वे प्राय ऐसे लोगों को ही मिला करते थे जिनसे देश के वास्तविक कल्याण की कुछ आशा की जाती थी। उस समय के दान लेनेवाले केवल अपने उदरपोषण के लिए सर्वसाधारण का धन लेते थे और उसके वदले में इतना अधिक उपकार करते थे कि उलटे सर्वसाधारण ही उनके ऋणी रहा करते थे। वास्तव में हमारे पूर्वजों का मुख्य अभिप्राय इसी प्रकार के दानों से था जिनके फलस्वरूप या तो हमारे देश का अधकार दूर हो या हमारे देश की उपजाऊ शक्ति वढे।

अब आप अपनी वर्तमान दान पद्धति की ओर ध्यान दें, तो आपको मालूम होगा कि ऊपर कहे हुए दान के सामने उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। आज कल हिंदू जिन्हें दान देते हैं उनमें देशोपकार करने की जरा भी शक्ति नहीं होती। दान देते समय हमें कभी स्वप्न में भी पात्र या अपात्र का विचार नहीं होता। धर्मग्रंथों में कहा है कि अपात्र को दान देने से दाता और गृहीता दोनों का नाश हो जाता है, पर हम उस ओर भी ध्यान नहीं देते। ऐसा दान प्रकृति दान नहीं कहा जा सकता। हाँ, उसे धन का अपव्यय और नाश अवश्य कह सकते हैं और यही कारण है कि हमने भी उसे अपव्यय की श्रेणी में रक्खा है। हम यह बात स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार का दान हमारे प्राचीन धार्मिक भावों की बहुत कुछ रक्षा किए हुए है और उसे नष्ट होने से बचाता है, पर इसमें भी सदेह नहीं कि दूसरी ओर हमारे देश को उमसे असरय हानियाँ हो रही हैं। आजकल, दानस्वरूप, हिंदू जितना धन व्यय करते हैं उसके बदले में उन्हें शतांश भी लाभ नहीं पहुँचता। ऐसे दान से पारलौकिक सुख की आशा रखना भी व्यर्थ है। पारलौकिक सुख केवल उसी दान में सम्भावित है जो वास्तव में किसी दीन या असहाय की रक्षा और सहायता के लिए किया जाय। ऐसा दान मनुष्यमात्र का कर्तव्य है और उसका महत्व भी और दानों से अधिक है। इसके अतिरिक्त जो दान ऐसे कार्यों के लिए किया जाय जिनसे हमारे

देश की वास्तविक उन्नति संभावित हो तो वह भी सर्वश्रेष्ठ और परम कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त और सब प्रकार के दानों को अपव्यय ही समझना चाहिए।

इस दृष्टि से देखिए तो आपको मालूम हो जायगा कि हिंदू अपने बहुत से धन का दान के रूप मे अपव्यय ही करते हैं। इस अपव्यय से देश की अनेक हानियाँ होती हैं। हमारे यहाँ के अधिकाश दानपात्र सब प्रकार की शक्तियों से हीन होते हैं और प्राय अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों में वे फँस जाते हैं। यदि दुर्व्यसनों में वे न भी फँसें, तो भी इसमे सदेह नहीं कि वे देश के लिए भार-स्वरूप हैं और उनके किए कोई हितकर कार्य नहीं हो सकता। उनके कारण देश की शक्ति का नाश और ह्रास होता है, और दिन पर दिन उनके समान अकर्मण्यों की सख्या बढती है। यहीं आकर हमारे लिए शास्त्रों का वचन बहुत ठीक उतरता है कि कुपात्र को दान देने से दाता और गृहीता दोनों का नाश होता है। हमारा नाश ही हमारे समाज या देश का नाश है।

इसमे सदेह नहीं कि हिंदू दान देने मे बहुत शूर होते हैं और इसीलिए उनमें दान लेने वाले शूरों की भी अधिकता से सृष्टि होती है। राजा कर्ण और हरिश्चद्र सरीखे दानी उत्पन्न करने की शक्ति भारत के अतिरिक्त किसी दूसरे देश में नहीं है। उसी प्रकार निर्लज्ज दान लेने वाले भी केवल भारत ही उत्पन्न

कर सकता है। युक्तप्रदेश में ब्राह्मणों की एक जाति दान लेने वाली भीख माँगने में बहुत वीर होती है। इस जाति के लोगों के सबंध में यह बात बहुत अधिक प्रसिद्ध है कि शहरो मे जाकर वे लोग दिन के समय तो अपनी कुमारी कन्याओ को लेकर बाजारो मे घूमते और चिल्लाते फिरते हैं—"वाम्हन नगरी में उपवास करत बाय" (ब्राह्मण नगरी में उपवास कर रहा है)। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि घटे दो घटे इस प्रकार फेरी लगाने से ही वे डेढ दो सेर आटा और दो चार आने पैसे पा जाते हैं। उनकी दिन की कमाई इससे बिलकुल भिन्न होती है। केवल वही नहीं, बल्कि उनके परिवार के अन्य सभी पुरुष भिन्न भिन्न स्थानों मे घूमकर इसी प्रकार भीख मागते हैं। इस जाति के लोगो में, विवाह आदि के अवसर पर, वर या कन्या पक्ष की योग्यता और सपन्नता का अनुमान केवल एक इसी बात से लगा लिया जाता है कि "उनके यहाँ तो चार लोटे चलते है।"

इस प्रकार के झूठे दान के बाद भारतवासियो का दूसरा अपव्यय मुकदमे बाजी है। इस काम में क्रम से मदरासी, बिहारी और पजाबी, शेप भारत के समस्त प्रदेशो से बहुत बढे-चढे हैं। युक्तप्रात और मध्य प्रदेश वाले भी कुछ कम मुकदमे बाज नहीं होते। जमीदारो और खेतिहरो को तो अपने मुकदमो से इतना समय, धन या अवकाश ही नहीं बच रहता कि वे उसे दूसरे कार्यों मे लगा सकें। मुकदमेबाजी को भी

बड़ा भारी नशा समझना चाहिए । प्राय देखा गया है कि जो लोग अपनी आधी या उससे भी अधिक अवस्था तक कभी कचहरी नहीं गये, वे भी एक बार वादी या प्रतिवादी बनकर कचहरी जाते ही मुकदमों के कीडे बन गये है, ऐसे लोगों को नित्य कचहरी जाने का रोग सा हो जाता है और कोई आवश्यक कार्य्य न होने पर भी विना कचहरी गए उन्हें चैन नहीं पडता। मुकदमेबाजी मे अनेक प्रकार के आवश्यक और अनावश्यक व्यय अधिकता से करने पडते हैं, अनेक अवसरों पर बहुत कुछ झूठ बोलना पडता है, अनेक प्रकार के दाँव पेंच तथा अन्य कुकर्म करने पड़ते हैं और अत मे यज्ञ कुड में अपने और अपने सर्वस्व की आहुति भी देनी पडती है । सैकडों हजारों उदाहरण ऐसे उपस्थित हैं जिनमें मुकदमेबाजी के कारण वडे वडे धनवान अपना सर्वस्व नष्ट करके ऋणी और कगाल हो जाते हैं। वडी भारी निलक्षणता इसमें यह है कि अधिकाश मुकदमे बहुत ही छोटी और तुच्छ बातों के लिए हुआ करते हैं, और उनका मुख्य कारण अपना वडप्पन दिखलाने या आन रखने के सिवा और कुछ भी नहीं होता। अभी थोडे दिनों की बात है बवई प्रात के दो धनवानों मे केवल इसी बात के लिए कई वर्षों तक मुकदमेबाजी होती रही कि उनमें से एक की बिल्ली प्राय दूसरे के घर जाया करती थी। यह मुकदमा हाई-कोर्ट तक पहुँचा था और उन दोनों पक्षों के ५००००) से भी अधिक रुपए

व्यय हुए थे। काशी में एक छोटा सा चबूतरा है जिसकी लंबाई ४ या ५ गज और चौडाई १ गज से भी कुछ कम है। इस चबूतरे के लिए एक बार मुकदमा चला था जिसमें दोनों पक्ष वालों के एक एक लाख रुपए लग गए। तभी से उस चबूतरे का नाम लक्खी चबूतरा पड गया और अब तक उसी नाम से विख्यात है। इसमें विशेषता यह है कि यह चबूतरा किसी अच्छे मौके पर भी नहीं है। इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिससे व्यर्थ की अथवा बहुत छोटी बातों के लिए बडे बडे मुकदमे होते हैं। इधर कई वर्षों से हमारे देश में कुछ स्थानों में नये सिरे से पचायत की प्रथा प्रारंभ हुई है। यद्यपि इन पचायतों के निर्णय बहुत ही उपयुक्त हुआ करते हैं पर तो भी न जाने क्यों लोग उससे लाभ उठाने मे वचित रहते हैं। प्राचीन काल में हमारे यहाँ केवल राजधानी के बडे बडे मुकदमे ही राजाओं या शासकों के सामने जाते थे, शेष सब मुकदमे गाँव की पचायतों में ही हुआ करते थे। यूरोप के दो एक स्वतन्त्र प्रदेशों ने तो इसकी उपयोगिता यहाँ तक स्वीकार की है कि वहाँ कोई मुकदमा बिना एक बार पचायत में गए राजा के न्यायालय में जा ही नहीं सकता, अर्थात् वहाँ मुकदमों का निर्णय केवल पचायत द्वारा होता है और राज्य के न्यायालयों में उनकी अपील होती है।

हमारे देश मे अपव्यय की तीसरी और बडी मद ऐयाशी है,

भारतवर्ष के अध:पतन में सबसे अधिक सहायता इसी विलासिता ने दी है, यहाँ तक कि पृथ्वीराज की विलासिता ने ही इस देश को विदेशियों के अधीन कर दिया और अनत-काल के लिए परतत्र बना दिया। पृथ्वीराज बडे भारी वीर और योद्धा थे और उनके पास सब प्रकार का बल था, पर उन्होंने अपने इन सब गुणों का अधिकाश उपयोग केवल विलासिता और इद्रिय-सुख के लिए ही किया था और अत मे जब उन्हे विदेशियों का सामना करना पडा तो वे अपनी निर्बलता के कारण अपने देश की रक्षा न कर सके। यदि इच्छिनी, सयोगिता आदि ग्यारह रानियो के लिए उन्हे बाईस बार बडे-बडे युद्ध न करने पडते, तो भारतवर्ष को भी पराधीनता की बेडी न पहननी पडती। भोग विलास में भारतवासियो की समानता कदाचित ही कोई कर सकता है। वाजिदअली शाह से बढकर विलासी जगत में दूसरा नहीं हुआ। उनकी हरम-सरा मे नित्य नई स्त्रियाँ भर्ती होती थीं और सबको हजारो रुपए मासिक वेतन मिला करते थे। किसी को दो, किसी को चार और किसी को दस या बीस हजार रुपए मासिक सरकारी खजाने से मिलते थे। इनके सिवा विवाहिता और खास बेगमों की सख्या सैकडो से भी अधिक थी जिनमें प्रत्येक को कई लाख रुपए मासिक मिला करते थे। वाजिदअली अपने आपको कृष्ण कहा करते थे और सदा "सोलह सौ गोपियो" से घिरे रहा करते थे।

उन्हें दिन रात मास, मदिरा और पौष्टिक पदार्थ खाने और परिस्तान में आनंद करने के सिवा और कोई काम ही न था। पर इन सब का परिणाम क्या हुआ ? यही कि अगरेजों ने उन्हें तख्त से उतार कर मटियाबुर्ज मे नजरबंद कर दिया और उनके लिए एक लाख मासिक वृत्ति नियत कर दी। नवाब साहब के यह लाख रुपए दो चार या पाँच रोज मे ही खर्च हो जाते थे और शेप मास उन्हे खाली हाथ ही विताना पड़ता था। एक कहावत है कि "खर्च मनुष्य को तोड कर टूटता है।" अर्थात् जो मनुष्य एक बार अपव्यय आरभ कर देता है, वह जब तक स्वय नष्ट न हो जाय तब तक उसका व्यय कम नहीं हो सकता। यही दशा वाजिदअली शाह की थी। इस दुरवस्था मे भी उन्होंने तीन लाख कबूतर पाल रक्खे थे और नवाब साहब की सवारी उन्हीं की छाया में निकला करती थी।

इस प्रकार भोग विलास, वेश्या, भाड, मदिरा आदि में अपना सर्वस्व फूँक देने वालों की सख्या हमारे देश में बहुत अधिक है। कलकत्ते में जब तक किसी के पास कम से कम एक वेश्या न हो तब तक उसकी गिनती "रईसों" में हो ही नहीं सकती। यद्यपि वहाँ रईस या बाबू बनने के लिए एक गाड़ी-घोडा और एक बाग की भी आवश्यकता होती है, पर जिसके पास ये चीजें न हों, उसको कम से कम एक वेश्या तो अवश्य

ही रखनी पडती है, और विशेषता यह कि मदिरा विना उसका भी एक अग अपूर्ण ही समझा जाता है। जिन लोगो को आचार-विचार का थोडा बहुत ध्यान रहता है और जो भाग्य-वश वेश्यागमन से बच रहते हैं, उन्हें भी अतत अपने पुत्र पौत्र आदि के यज्ञोपवीत और विवाह के अवसरों पर भाडों और वेश्याओ का नाच अवश्य कराना पडता है। आधे से अधिक ऐसे अवसरो पर तो लोगो को इन कार्यों के लिए ऋण ही लेना पड़ता है। महफिलो मे, जहाँ वेश्याओं का नृत्य होता है, सब से आगे छोटे और कोमल-मति बालक ही बैठाये जाते हैं। उन के नष्ट होने का सूत्रपात यहीं होता है। प्राय' महाजनो के दिवाले धूमधाम से विवाह मे नाच कराने के कारण ही हो जाते हैं। साधारण स्थिति के लोगों को नष्ट करने के लिए मदिरा, भाँग, गाँजा, चडू, अफीम, कोकेन आदि अनेक प्रकार के नशे भी कम नहीं हैं। साराश यह कि हमारी आय के द्वार जितने कम हैं व्यय के मार्ग उतने ही अधिक है। और जब तक हम लोग इस प्रकार के विनाशक अपव्यय से अपना पीछा न छुडा लें तब तक हमें अपनी, उन्नति की कौन कहे, स्थिति की भी आशा न रखनी चाहिए।

जो दुर्गुण किसी उन्नत और सपन्न जाति के भी नष्ट कर देने के लिए यथेष्ट हैं वे ही दुर्गुण निर्धन, अशक्त, अशिक्षित, रोगी और अल्पजीवी भारतवासियो में अधिकता से भरे हुए

-हैं। इसका शोकजनक परिणाम थोड़े से विचार से ही मालूम हो सकता है। हमारे लिए शिक्षा, साहित्य, शिल्प, वाणिज्य आदि अनेक लाभदायक और परम आवश्यक कार्य्य पड़े हुए हैं जिनकी उन्नति बिना हमारे तन, मन और धन लगाए हो ही नहीं सकती। पर हम उनका कुछ विचार न कर, अपनी वर्तमान दशा से ही सतुष्ट हो रहते हैं। यदि कभी कोई बात चली भी तो हम यही कहकर अलग हो जाते हैं कि "यह सब हमारे भाग्य का ही दोष है।" पर हम यह नहीं जानते कि मनुष्य अपने भाग्य का आप ही विधाता होता है। हमारे कृत्य ही हमारा भाग्य है। हम अपने ही कृत्यो से अपने सौभाग्य को नष्ट करते और अपने दुर्भाग्य को सौभाग्य बना सकते हैं। अपने देश की वर्तमान हीनावस्था को देखते हुए हमें सब प्रकार के भोगविलास, और आलस्य आदि त्याग कर कर्मक्षेत्र में उतर पड़ना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को यथासाध्य अपनी और अपने देश की उन्नति में लग जाना चाहिए। यदि हम दृढ-प्रतिज्ञ होकर कोई कार्य्य आरभ कर दें तो नि सदेह ईश्वर भी सब प्रकार से हमारी सहायता करने लग जायगा और तब हम जगत को दिखला सकेंगे कि मनुष्य ही अपने भाग्य का निर्माता होता है। अपनी अज्ञानता के कारण भाग्य वा ईश्वर को दोष देना बड़ी भारी भूल है, जो लोग वास्तव में योग्य होते हैं वे कभी भाग्य या विधाता को दोषी नहीं ठहराते

बल्कि स्वय कमर कस कर कार्य्य आरभ कर देते हैं और अत में उन्हें सफलता भी हो ही जाती है। हमें भी इस सिद्धात पर दृढ विश्वास रख कर उद्योग आरभ कर देना चाहिए, ईश्वर हमें अवश्य विजयी करेगा।

जन्मेजय का नागयज्ञ

[श्री जयशंकर प्रसाद]

स्थान—कानन

[तक्षक]

तक्षक—प्रतिहिंसे ! तू क्यों हृदय को जला रही है ! मैं अपने शत्रुओं को सुखासन पर बैठे, साम्राज्य का खेल खेलते, देख रहा हूँ और स्वयं दस्युओं के समान अपनी ही धरणी पर पैर रखते हुए भी काँप रहा हूँ। प्रलय की ज्वाला इस कंकाल में धधक उठती है ! तू बलि चाहती है, तो ले, मैं दूँगा । छल, प्रवंचना, कपट, अत्याचार, सब तेरे सहायक होंगे। हाहाकार, क्रंदन और पीडा तेरी सहेलियाँ बनेंगी। रक्त-रंजित हाथों से तेरा अभिषेक होगा। शून्य गगन शव गंध पूरित धूप से भरकर तेरी धूपदानी बनेगा। तक्षक पुजारी होगा—कंटकासन पर बैठकर तेरी उपासना करेगा। ठहर देवी, ठहर !

[खड्ग निकालता है]

[वासुकि का प्रवेश]

वासुकि—क्यों नागनाथ ! क्या हो रहा है ? किस पर क्रोध है ?

तक्षक—प्रिय वासुकि, तुम आ गए ? कहो वह काश्यप ब्राह्मण आवेगा कि नहीं !

वासुकि—प्रभो ! वह तो गहरी दक्षिणा पाकर फिर राजकुल से संतुष्ट हो गया है। किंतु उसे एक बात का बड़ा खेद है। वह रानी के मणि-कुंडल दूसरे ब्राह्मण को मिलना सहन नहीं कर सकता। इसी से आशा है कि वह फिर आपसे मिलेगा। सरमा भी अपनी करनी का फल पा रही है। वह अत्यंत अपमानित की गई है। संभव है, वह फिर नागकुल में लौट आवे।

तक्षक—मणि-कुंडल ! कौन, वे ही, जो हम नागों की अमूल्य मणि हैं ! हाय वासुकि, वे फिर कहाँ मिलेंगे ! किंतु यदि वे मिल जाते तो वही काश्यप को देकर उन्हें अपनी ओर मिला लेता। राजकुल का पूरा समाचार काश्यप ही से मिल सकता है।

काश्यप—(प्रवेश करके) नागनाथ की जय हो !

तक्षक—प्रणाम करता हूं ब्राह्मण देवता। कुशल तो है ?

काश्यप—आर्य, क्षत्रियों को घमंड हो गया है। उनके सविनय प्रणाम में एक तीखा तिरस्कार भरा रहता है। ब्राह्मणों का सिर-स्थानीय होना वे सहन नहीं करते। वे राज-मद से इतने मत्त हैं कि अध्यात्म-गुरु की अवहेलना क्या, कभी कभी परिहास तक कर बैठते हैं उनके क्रोध को हँसी में उड़ा देते हैं। यह बात इस विशुद्ध ऋषि-कुल संभूत शरीर को सहन नहीं है।

मुझे उनका अभिमान तोडना पड़ेगा। नाग राज, अभी क्षत्रिय स्पष्टरूप से ब्राह्मणो के नेतृत्व का विरोध नहीं कर सके हैं। अभी वे प्राचीन सस्कार के वशीभूत हैं।

तक्षक—तो फिर हमें क्या आज्ञा है ?

काश्यप—घबराओ मत। अभी ब्राह्मणो में वह बल है, तप का वह तेज है कि वे नाग जाति को क्षत्रिय बना लें। तुम लोगो को भी चाहिए कि जहाँ तक हो सके, आर्य जाति की इद्रिय-प्रबलता के सहायक बनो। उनमें अपने रक्त का मिश्रण करो। समय आने पर तुम्हारे ही वशधर इस भारत के अधिकारी होंगे। पर इसके लिए उद्योग करते रहो।

तक्षक—प्रभो, मणिकुडल कौन ब्राह्मण लाया है। वे हम लोगों की एक प्राचीन और अमूल्य सपत्ति हैं।

काश्यप—(नेपथ्य की ओर देखकर) लो, वह आ रहा है। हम और वासुकि छिप जाते हैं।

[वासुकि का हाथ पकड़कर जाता है]

[उत्तक का प्रवेश]

तक्षक—ब्रह्मचारिन्, नमस्कार करता हूँ।

उत्तक—कल्याण हो ! मैं थक गया हूँ। यदि यहा विश्राम करूँ, तो आप असतुष्ट तो न होंगे ? क्या आप इस कानन के स्वामी हैं।

तक्षक—अब तो नहीं हूँ, पर हाँ कभी था। आप बैठिए।

[उत्तंक बैठता है फिर थककर सो जाता है]

[काश्यप का प्रवेश]

तक्षक—क्यों काश्यप, इसने मणि कुडल कहाँ रक्खे होंगे।

काश्यप—अपने उष्णीष में। मैं हट जाता हूँ। तुम्हें देखकर मुझे डर लग रहा है। तुम इतने भयानक क्यों दिखाई देते हो।

तक्षक—महात्मन्, आप जब अपना धर्म करने लगते हैं जब यज्ञ करने लगते हैं, तब आपभी मुझे इतने ही भयानक देख पडते हैं। जब पशुओं की कातर दृष्टि आपको प्रसन्न करती है, तब सच्चे धार्मिक व्यक्ति का जी काँप उठता है।

काश्यप—अजी वह तो धर्म है, कर्त्तव्य है।

तक्षक—किंतु हम असभ्य जगली लोग धर्म को पवित्र, अपनी मानवी प्रवृत्ति से परे, एक उदार वस्तु मानते हैं। अपनी आवश्यकता को, अपनी लालसामयी दुर्बलता को उसमे नहीं मिलाते। उसे बालक की निर्मल हँसी के समान अछूता ही रहने देते हैं। यदि पाप को पाप ही कह सकते, तो उस पर धर्म का मिथ्या आवरण ही क्यों चढाते।

काश्यप—बस करो। नागराज, अभी तुमको यह भी नहीं मालूम कि पाप और पुण्य किसे कहते हैं। सूक्ष्म तत्वों को समझना तुम्हारी मोटी बुद्धि और सामर्थ्य के बाहर है।

जो तस्करता करना चाहते हो, वह करो। आर्यों को यह कला नहीं सिखलाई गई है।

[तक्षक छुरी निकालता है। काश्यप चिल्लाता है—"हैं हैं, ब्रह्म-हत्या न करो।" तक्षक उसे डरै न कर उत्तंक का उष्णीष लेना चाहता है उत्तंक जाग उठता है। तक्षक छुरी मारना चाहता है। सरमा दौड़ती-हुई आती है और तक्षक का हाथ पकड़ लेती है। तक्षक उत्तंक को छोड़कर उठ खड़ा होता है।]

सरमा—हा नृशंस तक्षक!

तक्षक—तुझे इस विश्वासघात का पूरा प्रतिफल मिलेगा। परिणाम भोगने के लिए प्रस्तुत होजा! आज यह छुरी तेरा ही रक्तपान करेगी!

उत्तंक—पामर नाग! तुझे लज्जा नहीं आती! सोए हुए व्यक्ति को मार डालना चाहता था, अब नारी की हत्या करना चाहता है।

तक्षक—अरे, तुझमें भी नागराज तक्षक को ललकारने का साहस है। देखू तो, तू अपने आपको या पापिनी सरमा को कैसे बचाता है।

[छुरी उठाता है]

उत्तंक—यदि मैं ब्राह्मण हूँगा, यदि मेरा ब्रह्मचर्य्य और स्वाध्याय सत्य होगा, तो तेरा कुत्सित हाथ चल ही न सकेगा। हत्याकारी दस्यु को यह अधिकार नहीं कि वह सत्यशील ब्रह्म-तेज पर हाथ चला सके। पाखंडी, तेरा पतन समीप है।

[तक्षक छुरी चलाना चाहता है । वासुकि आकर हाथ पकड़ लेता है]

वासुकि—नागराज, क्षमा करो । यह मेरी स्त्री है ।

तक्षक—वासुकि, तुम विद्रोह करने वाली को दंड से बचाते हो।

वासुकि—फिर भी यह मेरी स्त्री है । नाग राज, सरमा और उत्तक मुक्त हैं । वे जहाँ चाहें, जा सकते हैं ।

सरमा—यह आर्य-संसर्ग का ही प्रताप है । नागराज, आप मेरे पति हैं, किंतु आपका मार्ग भिन्न है और मेरा भिन्न । फिर भी मेरा अनुरोध है कि जब अवसर मिले, मनुष्यता को व्यवहार मे लाइएगा । केवल हिंसक पशु ही मत बने रहिएगा । अपने आपको सर्प की संतान मानकर कुटिलता और क्रूरता की ही उपासना मत कीजिएगा ।

वासुकि—क्या पति होने के कारण तुम पर मेरा कुछ भी अधिकार नहीं ? अब मैं तुम्हे न जाने दूंगा ।

सरमा—आपको और सब अधिकार है , पर मेरी सहज स्वतंत्रता का अपहरण करने का नहीं ।

वासुकि—इसका अर्थ ?

सरमा—इसका अर्थ यही है कि मैं आपके साथ चलूँगी पर अपमानित होने के लिए नहीं । आपको प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी ।

वासुकि—मैं प्रतिश्रुत होता हूँ ।

सरमा—अच्छी बात है ।

[सब जाते हैं]

गद्य-काव्य

[श्री राय कृष्णदास]



साधना

हे नयनरंजन नीरद, तू संतप्तों को शीतल करने के लिए अपने आपको बरस देता है। यह तन की साधना में तुझ से सीखता हूँ।

हे मानस, तू निरंतर मोती के समान उज्ज्वल, निर्मल और रम्य तरंगें उठाया करता है, जिनके सुख मे मग्न होकर सुवर्ण-सरोज झूमा करते हैं और निरंतर तुझे मकरंद दान देते रहते हैं। तू उसे सादर ग्रहण करके फिर उन्हीं के समूल नाल पुष्ट करने में प्रयुक्त करता है। जब समस्त सर पंकिल और राजहंस विकल हो उठते हैं तब उन्हें तेरे बिना कौन आश्रय दे सकता है? यह मानसी साधना मैं तुझ से सीखता हूँ।

हे पादप, फलों के बोझ से तू झुक जाता है और तेरी डालें टूटने लगती हैं। पर तू अपना नियम नहीं छोड़ता। क्योंकि बुभुक्षितों को तृप्त करके उनकी आँखें खोलना तेरा प्रण है। बुद्धि की सफलता भी यही है। और, इसे मैं तुझ से सीखता हूँ।

चातक, तू अपनी ज्वलंत कामनाओ को सब ओर से

एकत्र करके एक स्वाति की बूँद पर लगाता है और तू अपनी 'धुन' का इतना पक्का है कि साल भर उसी की रट लगाये रहता है और उसी एक बूँद से अमृत पान के समान छक जाता है। तेरी उस पर इतनी अनुरागमयी प्रबल कामना है, कि तू उसमें मिल कर अपने अहभाव का अभाव नहीं कर देता। वरन् केवल इसीलिए आत्मभाव बनाए रखता है कि निरतर उसकी आशा और लाभ के आनद का सुख लूटा करे। यह अहभावमयी कामना की साधना में तुझ से सीखता हूँ।

और मेरी इन सब साधनाओं का उद्देश्य क्या है? एक मात्र यही कि प्राणेश को सिद्ध करलूँ।

अनुराग विराग

जब मैं कोई फूल देखता हूँ तब मेरा हृदय तुम्हारा गुण गान करने लगता है। एक छोटे से फूल को तुमने इतने प्रेम से बनाया है। उसमें कितना सौंदर्य्य भर दिया है और उसे कितनी सजीवता प्रदान की है। मैं उसे देखते देखते उसको तथा अपने को भूल जाता हूँ और तुम्हीं तुम रह जाते हो। अहा! तुम्हारी बातें भी कैसी निराली है। तुमने दया के मारे अपने मिलने के कितने द्वार बना दिये हैं!

पर यह कौन है जो आकर मुझे चौंका देता है और मुझे हटाता है? वह कहता है कि—"हटो, भागो। यह विश्व तो माया का जाल है, इसमें फँस कर तुम नष्ट हो रहे हो। इससे बचो।

वह ठगिनी तो तुम्हे उससे दूर लिये जा रही है जो सब जगह है।"

कैसी उलटी बात है। जब सब जगह तुम्हीं हो तब कोई तुम से दूर कैसे हो सकता है ? और, यदि कुछ काल के लिए उसी की बात मानलें कि यह विश्व माया का जाल है, तब भी तो इसके बाहर जाने का उपाय नहीं।

हे नाथ! यह वाटिका तुम जिसके माली हो और जिस पर तुम्हारा इतना वात्सल्य है कि इसका समस्त अशिव अपने ऊपर लेकर तुम इसके 'शंकर' बनते हो इसमे ऐसी कुभावना करने से बढकर कौन पाप, अनर्थ और नीचता होगी!

क्या स्वयं वही जड माया के फंदे में नहीं फँसा है जो उसे सर्वत्र माया ही माया दीख पडती है ?

आनंद की खोज

आनन्द की खोज में मैं कहाँ कहाँ न फिरा ? सब जगह से मुझे उसी भांति कलपते हुये निराश लौटना पडा जैसे चन्द्र की ओर चकोर लड खडाता हुआ फिरता है।

मेरे सिर पर कोई हाथ रखने वाला न था और मैं रह रह कर यही बिलखता कि जगन्नाथ के रहते भी मैं अनाथ कैसे रहता हूँ, क्या मैं जगत् के बाहर हूँ!

मुझे यह सोच कर अचरज होता कि आनन्द-कंद मूलक इस विश्व-वल्लरी में मुझे आनन्द का अणुमात्र भी न मिले!

हा ! आनंद के बदले मैं रुदन और शोच को परिपोषित कर रहा था।

अत को मुझसे न रहा गया। मैं चिल्ला उठा—आनद, आनद, कहाँ कहाँ है आनद ! हाय ! तेरी खोज मे मैंने व्यर्थ जीवन गँवाया। बाह्य प्रकृति ने मेरे शब्दो को दुहराया, किंतु आतरिक प्रकृति स्तब्ध थी। अतएव मुझे अतीव आश्चर्य हुआ। पर इसी समय ब्रह्माड का प्रत्येक कण सजीव होकर मुझसे पूछ उठा—क्या कभी अपने आप मे भी देखा था? मैं अवाक् था।

सच तो है। जब मैंने—उसी विश्व के एक अश—अपने आप तक में न खोजा था तब मैंने यह कैसे कहा कि समस्त सृष्टि छान डाली? जो वस्तु मैं ही अपने आप को न दे सका वह भला दूसरे क्यों देने लगे।

परतु, यहा तो जो वस्तु मैं अपने आप को न दे सका था वह मुझे अखिल ब्रह्माड मे मिली और जो मुझे अखिल ब्रह्माड से न मिली थी वह अपने आप में मिली!

स्वत सिद्धि

उस महानद के एक सुनसान ऊँचे कगारे पर मेरी निराली झोंपडी थी। दूर दूर तक ऊँची नीची भूमि फैली थी, जिसमें कहीं कहीं कुश उगे थे। एक विशाल, वट-वृक्ष मेरे उटज पर छाया किये हुए था। उसकी सुदीर्घ शाखाएँ उस महानद तक

पहुँचकर भी उसमे निमग्न इसलिए न हुई थीं कि उसके उज्ज्वल हृदय में अपनी छाया देखकर उन्हे जो आनद मिलता था उससे वे वचित हो जातीं । और उसके शत-शत मूलों ने किनारे पर फैलकर मेरे लिए एक प्रशस्त घाट बना रक्खा था ।

एक दिन मेरे पास दीपक न था । कृष्ण-पक्ष था और रात्रि भी निकट आ रही थी । सध्या की उदासी ने मुझे व्याकुल कर दिया और पागल की भाति कुटी से बाहर हुआ । मैंने किसी प्रकार, किनारे तक अपना शरीर-भार वहन किया और वहीं उसे पटक दिया । अधकार बाह्य प्रकृति को ही नहीं, मेरे अभ्यतर को भी आच्छादित कर रहा था । मेरी किंकर्तव्य विमूढ दशा वर्णन करने के लिए कोई शब्द नहीं ।

उसी समय मुझे नद में दूर तनिक सा प्रकाश दीख पडा । मैंने समझा कि किसी तारे की छाया होगी या जुगनू होगा । पर वह धारा के साथ मेरी ओर चला आ रहा है ।

अहोभाग्य ! यह तो दीपक है ।

जहाँ मैं बैठा था वहीं धारा टकराती थी । अब मुझे चिंता न थी । वह दीपक अब इतना पास आ गया था कि एक क्षण में वह हाथ से पकड लिया जाता । पर इसी समय एक लहर उसे बुझा देती है । मेरे लिए अधकार ही अधकार ।

पुन एक दीपक दिखाई पड़ता है । फिर मेरा हृदय उल्लसित

होता है । पुनर्वार वह मेरे पास पहुँच जाता है और लहर उसे बुझा देती है।

सारी रात यही क्रम चला। प्रात काल अब उषा मेरे समान दुखियों का दु:ख दूर करने को आलोक लिए आती है तब एक टिमटिमाता दीप किनारे आ लगता है।

अब प्रशस्त प्रकाश फैल गया है और मुझे दीपक की आवश्यकता नही। पर मैं उसे सहर्ष उठाकर अपनी कुटी को लौटता हूँ।

पागल पथिक

'पथिक'—मैंने पूछा—'तुम कहाँ से चले हो और कहाँ जा रहे हो ? तुम्हारी यात्रा तो लबी मालूम पडती है क्योंकि तुम्हारा तन सूख कर काँटा हो रहा है और उस पर का फटा वस्त्र तुम्हारे विदीर्ण हृदय की साख भर रहा है। श्रम से हार कर तुम्हारे पैर फूट फूट कर रक्त के आँसू रो रहे हैं। यह बात क्या है ?'

उसने दैन्य से दाँत निकाल कर उत्तर दिया—'बधु, मैं अपना मार्ग भूल गया हूँ । इस संसार के बाहर एक ऐसा स्थान है जहाँ इसके सुख और विलास की समस्त सामग्रियाँ तो अपने पूर्ण सौंदर्य में मिलती हैं पर दु:ख का वहाँ लेश भी नहीं है। मेरे गुरु ने मुझे उसका ठीक पता बताया था और उसी पर मैं चला था। किंतु मुझसे न जाने कौन सी भूल हो गई है कि

मैं घूम फिर कर बार-बार यहीं आ जाता हूँ । जो हो मैं कभी न कभी वहाँ अवश्य पहुँचूँगा ।'

मैंने सखेद कहा—'हाय ! तुम भारी भूल मे पडे हो । भला इस विश्व मडल के बाहर तुम जा कैसे सकते हो ? तुम जहाँ से चलोगे फिर वहीं पहुँच जाओगे । यह तो घटाकार न है। फिर तुम उस स्थान की कल्पना तो इसी के आदर्श पर करते हो और जब तुम्हे इस मूल ही में सुख नहीं मिलता तब अनुकरण मे उसे कैसे पाओगे ? मित्र, सुख के साथ दु ख तो लगा है और उसमे सुख को अलग कर लेने के उद्योग मे भी एक सुख है । जब तुम उसे ही नहीं पा सकते तब वहाँ का निरतर सुख तो तुम्हे एक अपरिवर्तन शील बोझ नहीं यातना हो जायगी । अरे, बिना नव्यता के सुख कहाँ ? तुम्हारी यह कल्पना और सकल्प मिथ्या और निस्सार है, और इसे छोडने ही में तुम्हें इतना सुख मिलेगा कि तुम छक जाओगे ।'

परतु उसने मेरी एक न सुनी और अपनी राम मोटरिया उठाकर चलता बना ।

नाटक

[श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी]



नाटक शब्द नट्-धातु से बना है। 'नट्' नाचने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अंग्रेजी में नाटक को ड्रामा कहते हैं। ड्रामा के लिए संस्कृत में नाटक की अपेक्षा रूपक शब्द अधिक उपयुक्त है। ड्रामा का मूल-शब्द इसी का द्योतक है। ड्रामा उन रचनाओं को कहते हैं, जिनमें अन्य लोगों के क्रिया-कलापों का अनुकरण इस प्रकार किया जाता है कि मानो वे ही काम कर रहे हों। जूलियस सीजर के नाटक में कोई व्यक्ति उसका इस प्रकार अनुकरण करता है, मानो वही जूलियस सीजर है। दूसरो का अनुकरण करना मनुष्य-मात्र का स्वभाव है। बालक अपने माता-पिता का अनुकरण करता है। छोटे लोग अपने बडो का अनुकरण करते हैं। नाटकों की उत्पत्ति मनुष्यों के स्वभाव ही से हुई है। एक बात और है। नाटकों में सिर्फ क्रिया-कलापों ही का अनुकरण नहीं होता, मनुष्यों के हृद्‌गत भावनाओं का भी अनुकरण किया जाता है। यह तभी संभव है, जब हम दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख दुःख समझ लें। यही सहानुभूति है। यह भाव भी स्वाभाविक है। सच

पृछा जाय, तो इसी के आधार पर मानव समाज स्थित है । यदि यह न रहे, तो मानव-समाज छिन्न भिन्न हो जाय । अस्तु, हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि नाटकों का मूल रूप मनुष्यों के अतर्जगत में विद्यमान है । वाह्य जगत में उसका विकाश क्रमश हुआ है।

नाटक में नट दूसरों के कार्यों का अनुकरण करता है। इसीको अभिनय कहते हैं। यह कला है। भावों के आविष्करण को कला कहते हैं। किसी भी कला में नैपुण्य प्राप्त करने के लिए विशेष योग्यता की जरूरत है। इसीलिए, यद्यपि अनुकरण करने की प्रवृत्ति सभी में होती है, तथापि नाट्यकला मे दक्ष होना सब के लिए सभव नहीं।

नाटक और नाट्यकला में परस्पर सबध है। नाटक के लिए नाट्यकला आवश्यक है। परतु नाटक स्वय एक कला है, और उसकी उत्पत्ति मनुष्यों के अत करण मे होती है। वाह्य जगत में उसको प्रत्यक्ष कर दिखाना नाट्यकला का काम है, नाटकों की गणना काव्य में की जाती है। उन्हें दृश्य काव्य कहते हैं, अर्थात् वे ऐसे काव्य हैं, जिनमे हम कवि की कुशलता का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। यद्यपि रग भूमि में कवि नहीं आता, तथापि नटो के द्वारा हम उसकी वाणी सुनते हैं। नाट्यशाला शरीर है, और कवि उसकी आत्मा।

नाटक का प्रधान अग है चरित्र चित्रण और व्यक्तित्व

नाटक

[श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी]



नाटक शब्द नट्-धातु से बना है। 'नट्' नाचने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अंग्रेजी में नाटक को ड्रामा कहते हैं। ड्रामा के लिए संस्कृत में नाटक की अपेक्षा रूपक शब्द अधिक उपयुक्त है। ड्रामा का मूल-शब्द इसी का द्योतक है। ड्रामा उन रचनाओं को कहते हैं, जिनमें अन्य लोगों के क्रिया-कलापों का अनुकरण इस प्रकार किया जाता है कि मानों वे ही काम कर रहे हों। जूलियस सीजर के नाटक में कोई व्यक्ति उसका इस प्रकार अनुकरण करता है, मानो वही जूलियस सीजर है। दूसरों का अनुकरण करना मनुष्य-मात्र का स्वभाव है। बालक अपने माता-पिता का अनुकरण करता है। छोटे लोग अपने बड़ों का अनुकरण करते हैं। नाटकों की उत्पत्ति मनुष्यों के स्वभाव ही से हुई है। एक बात और है। नाटकों में सिर्फ क्रिया-कलापों ही का अनुकरण नहीं होता, मनुष्यों के हृद्गत भावनाओं का भी अनुकरण किया जाता है। यह तभी संभव है, जब हम दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख दुःख समझ लें। यही सहानुभूति है। वह भाव भी स्वाभाविक है। सच

प्रेम है, तो प्रेम के परिणाम में ही उसका अत होना चाहिए। दूसरा नियम यह है कि उसकी प्रत्येक घटना सार्थक रहे। वे घटनाएँ नाटक की मुख्य घटना के चाहे प्रतिकूल हों, चाहे अनुकूल, परतु उससे उसका सबध अवश्य रहना चाहिए।

नाटकों में अलौकिक घटनाओं का भी वर्णन रहता है। जो लोग नाटको में स्वाभाविकता चाहते हैं, उन्हे कदाचित अलौकिक घटनाओं का समावेश रुचिकर न होगा। आधुनिक नाटककार इब्सन ने अपने नाटकों में अलौकिक घटनाओं को स्थान नहीं दिया। पर प्राचीन हिंदू-नाटकों में अलौकिक घटनाएँ वर्णित हैं। उदाहरण के लिए कालिदास के अभिज्ञान शाकुनल को ही ले लीजिए। उसमें दुर्वासा के शाप से दुष्यत का स्मृति भ्रम, शकुतला का अतर्धान होना, दुष्यत का स्वर्गारोहण, ये सभी घटनाएँ अलौकिक हैं। शेक्सपियर के नाटकों में भी प्रेतात्मा का दर्शन कराया जाता है। हिंदू मात्र का यह विश्वास है कि मानव जीवन में एक अदृष्ट शक्ति काम कर रही है। उसी शक्ति का महत्व बतलाने के लिए अलौकिक घटनाओं का समावेश किया जाता है। शेक्सपियर भी इस अदृष्ट शक्ति को मानता था। उसने भी कहा है—"There is a tide in the affairs of men" अर्थात मनुष्य के जीवन में कभी एक ऐसी लहर उठती है, जो उन्हें सफलता के सिरे पर पहुँचाती है और फिर निष्फलता के गर्त्त में गिरा देती है। दूसरी बात

प्रदर्शन। नाटकों में कवि का मुख्य उद्देश यह रहता है कि वह मानव जीवन के रहस्य का उद्घाटन कर उसे शब्दों द्वारा स्पष्ट कर दे। परन्तु यह विशेषता केवल नाटकों मे ही नहीं पाई जाती।

महाकाव्य, नाटक और उपन्यास, तीनों में ही मानव चरित्र का चित्रण रहता है। पर इनमें बडा भेद है। महाकाव्य में एक अथवा एक से अधिक मनुष्यों के चरित्र वर्णित होते हैं। परतु उनमें चरित्र-चित्रण गौण रहता है। वर्णन ही कवि का मुख्य लक्ष्य होता है। अज-विलाप में इदुमती की मृत्यु उपलक्ष्य-मात्र है। यह विलाप जैसे अज के लिए है, वैसे ही अन्य भी किसी प्रेमिका के लिए उपयुक्त हो सकता है। प्रियजन के वियोग से जो व्यथा होती है उसी का वर्णन करना कवि का उद्देश था। इदुमती की मृत्यु के उपलक्ष में कवि ने उसीका वर्णन कर दिया। उपन्यास मे मनोहर कथा की रचना पर कवि का ध्यान अधिक रहता है। कहानी की मनोहरता उसकी विचित्रता पर निर्भर रहती है। नाटक मे महाकाव्य और उपन्यास, दोनों की विशेषताएँ रहती हैं। उसमे कवित्व भी होना चाहिए और मनोहरता भी। इसके लिए कुछ नियम बनाये गये हैं। सब से पहला नियम यह है कि उसमें आख्यान-वस्तु की एकता हो। नाटक का वर्णनीय विषय एक होना चाहिए। उसीको परिस्फुट करने के लिए उसमें अन्य घटनाओं का समावेश किया जाना चाहिए। यदि नाटक का मुख्य विषय

इब्सन के एक नाटक 'An enemy of the people' मे एक मनुष्य समार की कल्याण कामना से ससारके ही विरुद्ध लडा है।

पाश्चात्य नाटकों के दो विभाग किये गये हैं । ट्रेजेडी और कमेडी । ट्रेजेडी दु खात नाटक को कहते हैं, और कमेडी सुखात को । प्राचीन हिंदू साहित्य में दु खात नाटक एक भी नहीं है । हिंदू-नाट्य शास्त्र के आचार्यों की आज्ञा थी कि नाटको का अत दु ख में न होना चाहिए।यदि नायक पुण्यात्मा है तो पुण्य का परिणाम दु ख नहीं हो सकता । पुण्य की जय और पाप की पराजय ही दिखलानी चाहिए। अधर्म की जय दिखलाने से डर रहता है कि लोगों पर कहीं उसका बुरा प्रभाव न पडे, वे अधार्मिक न हो जायँ। हम इस नियम को अच्छा नहीं समझते , क्योंकि जीवन मे प्राय अधर्म की ही जय देखी जाती है । यदि यह बात न होती, तो ससार मे इतनी क्षुद्रता और स्वार्थ न रहता। यदि धर्म की अतिम जय देखने से लोग धार्मिक हो जायँ, तो धार्मिक होना कोई प्रशसा की बात नहीं। हम तो यह देखते हैं कि जो समार में धर्म का अनुसरण करते हैं, सत्पथ से विचलित नहीं होते, वे मृत्यु का आलिंगन करते हैं, और असत्पथ पर विचरण करने वाले सुख से रहते हैं। बात यह है कि धर्म का पथ श्रेयस्कर होता है, सुखकर नहीं। जो पार्थिव सुख और समृद्धि के इच्छुक हैं, उनके लिए धर्म का पथ अनुसरण करने योग्य नहीं, क्योंकि यह पथ सुख की ओर नहीं,

यह है कि नाटकों मे तत्कालीन समाज का चित्र अंकित रहता है। लोगों का जो प्रचलित विश्वास है, उसका समावेश नाटकों में करना अनुचित नही। शेक्सपियर के समय मे लोग प्रेतों के अस्तित्व पर विश्वास करते थे। उसी प्रकार कालिदास के समय में मुनियों के शाप पर लोगो को विश्वास था। अतएव जो नाटकों में यथार्थ चित्रण के पक्षपाती हैं, उनकी दृष्टि मे भी ऐसी घटनाओं का समावेश अस्वाभाविक नहीं हो सकता।

नाटक की एक विशेषता और है। उसमें घटनाओं का घात प्रतिघात सदैव होता रहता है। नाटकीय मुख्य चरित्र की गति सदैव वक्र रहती है। जीवन स्रोत एक ओर बहता है। धक्का खाते ही उसकी गति दूसरी ओर पलट जाती है। फिर धक्का लगने पर वह तीसरी ओर बहने लगता है। नाटक में मानव-जीवन का एक रूप दिखलाना पडता है।

उच्च श्रेणी के नाटकों में अंतर्द्वंद्व दिखलाया जाता है। मनुष्यों के अंतःकरण में सदा दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच युद्ध छिड़ा रहता है। यह बात नहीं कि सदा धर्म और अधर्म अथवा पाप और पुण्य में ही युद्ध होता हो, कभी कभी सत्प्रवृत्तियाँ भी एक दूसरे का विरोध करने लगती हैं। भवभूति के उत्तर राम चरित्र में रामचंद्र के हृदय में, दो सत्प्रवृत्तियों का ही अंतर्द्वंद्व प्रदर्शित किया गया है। एक ओर राजा का कर्तव्य है, और दूसरी ओर पति का कर्तव्य। आधुनिक नाट्य साहित्य में

धीर-ललित और धीर-प्रशात । इन नायकों में भिन्न भिन्न गुणों का प्रदर्शन कराया जाता है । आधुनिक नाट्य साहित्य में इस नियम की उपेक्षा की गई है । अब तो मजदूर, कैदी और पागल तक नायक के पद पर अधिष्ठित हो सकते हैं । इसका कारण यह है कि अब नाटकों में व्यक्तित्व प्रदर्शन पर अधिक ध्यान दिया जाता है ।

आधुनिक नाट्य-साहित्य की एक विशेषता उसका आदर्श भी है । वर्तमान साहित्य के आदर्श से उन सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिनके कारण सर्वत्र अशाति फैली हुई है । कुछ विद्वानों का कथन है कि आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में रोमेंटिक युग का अत होगया, और अब रियलिस्टिक साहित्य का आरभ हुआ है। योरप के आधुनिक साहित्य मे तीन आदर्श स्वीकृत हुए हैं— रियलिस्ट, आइडियलिस्ट और रोमेंटिसिस्ट । पहले हम इनका मतलब बतला देना चाहते है । ससार मे जो घटनाएँ प्रतिदिन होती हैं, उनका यथार्थ चित्रण करना रियलिस्टिक कला-कोविदों का काम है । ऐसे लेखकों की रचना पढते समय यही जान पडता है, मानों हमने यह दृश्य स्वय कहीं देखा है । यही नहीं, किंतु उसके पात्रो के चरित्र में हम अपने परिचित व्यक्तियों के जीवन का सादृश्य देख लेते हैं । ऐसे लेखकों में जोला नामक एक फ्रेंच लेखक का स्थान सर्वोच्च माना गया है । आइडियलिस्टिक

कल्याण की ओर जाता है। नाटकों में धर्म की पराजय बतलाने मे उनकी हीनता नहीं सूचित हो सकती। धर्म धर्म ही रहता है। दु ख और दारिद्र की छाया में रहकर भी पुरुष गौरवान्वित होता है। पृथ्वी मे पराजित होने पर भी वह अजेय रहता है। कुछ भी हो, भारतवष के आधुनिक साहित्य मे दु खान्त नाटकों की रचना होने लगी है। इसमे सदेह नहीं कि कमेडी की अपेक्षा ट्रेजेडी का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। इसलिए नाट्य-शालाओं में इनका अभिनय अधिक सफलता पूर्वक हो सकता है। परतु आजकल दु खात नाटकों का प्रचार कम हो गया है। कुछ समय पहले इँगलैंड में म्युजिकल कमेडी का, जिसमे हँसी, दिल्लगी और नाचगान की प्रधानता रहती है, खूब दौर दौरा रहा। अब भी उसका अच्छा स्थान ही है।

हिंदू-साहित्य शास्त्रकारों ने यह नियम बना दिया है कि नाटक के नायक को सब गुणों से युक्त और निर्दोष अकित करना चाहिए। कुछ विद्वानों की राय है कि यह नियम बडा कठोर है। इससे नाटक कार का कार्य क्षेत्र बडा सकुचित हो जाता है। किंतु हिंदू साहित्य शास्त्र में नाटक के नायकों को दोष-शून्य अकित करने का जो विधान है, उसका एक मात्र उद्देश्य यही है कि नाटकों का विषय महत् हो। यही कारण है कि प्राचीन सस्कृत नाटकों में राजा अथवा राजपुत्र ही नाटक के नायक बनाये गए हैं। नायकों के चार भेद किये हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत,

भविष्य की ओर ठेल रहा है, उसी प्रकार साहित्य में भी सभी आदर्शों को एकत्र करने की चेष्टा की जा रही है। आधुनिक साहित्य का मुख्य उद्देश्य यही जान पडता है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य की रक्षा करके समाज के साथ उसका संबंध स्थापित करदें। वर्तमान काल की सभ्यता के अंधकारमय भाग पर परदा डालने की चेष्टा अवश्य नहीं की जाती, पर उसी के साथ यह बात भी प्रकट कर दी जाती है कि वह ज्योतिर्मय किस प्रकार हो सकता है।

आजकल मनुष्यों के मानसिक भावों में एक बडा परिवर्तन हो गया है। पहले की तरह देश-काल मे आबद्ध होकर वे संकीर्ण विचारों के नहीं हो गये हैं। उनमे यथेष्ट स्वतंत्रता आगई है। पहले मनुष्यों की जैसी प्रवृत्ति थी, उनमे प्रेम, घृणा आदि भावों का जैसा संघर्षण होता था, वही लीला हम शेक्सपियर आदि नाटककारों की रचनाओं में देखते हैं। परंतु अब यह बात नहीं है। आजकल युवावस्था की उद्दाम वासना और प्रेम व्यक्त करने के लिए हमें 'रोमियो जूलियट' अथवा 'एंटोनी क्लियोपेट्रा' की सृष्टि नहीं करनी होगी। उनसे हमारा काम भी नहीं चलेगा। आज कल मनुष्य की भोग लालसा के साथ ही एक सौंदर्य-वृत्ति है, जिनमें समाज-बोध और अध्यात्म-बोध का मिश्रण होगया है। उनके हृदय का आवेग रोमियो अथवा ओथेलो के समान सरल नहीं है, वह बड़ा जटिल हो गया है। क्राइम ऐंड पनिशमेंट नामक उपन्यास में एक खूनी का चरित्र

लेखक एक आदर्श चरित्र के उद्भावन की चेष्टा करते हैं कि उससे एक अपूर्व चित्र खिल उठता है। वह चित्र पाठकों की कल्पना पर प्रभाव डालता है। वे अपने अनुभव द्वारा कवि के आदर्श की उच्चता स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे लेखक सत्य का बहिष्कार नही करते। वे ससार की दैनिक घटनाओं से ही अपनी कथा के लिए सामग्री का सग्रह करते हैं। परतु उनकी कृति मे घटनाओं का ऐसा विन्यास किया जाता है कि पाठक उसे प्रत्यक्ष देखने की इच्छा करें। पाठकों के मन में यही बात उदित होती है। कि हमने ऐसा देखा नही है, परतु देखना अवश्य चाहते हैं। विक्टर ह्यूगो इसी श्रेणी के लेखक हैं। रोमेंटिक साहित्य कल्पना की सृष्टि है। वह प्रकृति से अतीत है। बैलजक की रचना में कल्पना की ऐसी ही लीला दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक नाट्य साहित्य मे समाज के यथार्थ चित्रण का खूब ख्याल रक्खा जाता है। ऐसे नाटकों का आरभ इब्सनने किया है। उनमें सामाजिक जीवन का यथेष्ट परिपाक हुआ है। तो भी उनमे समाज के भविष्य विकास का आभास पाया जाता है। अत जो लोग यह कहते हैं कि आधुनिक साहित्य में रियलिज्म की प्रधानता है, उनकी बात स्वीकार नहीं की जा सकती। बात यह है कि जिस प्रकार वर्तमान युग में राष्ट्रीय जीवन भूत, भविष्य और वर्तमान को एकत्र कर अग्रसर हो रहा है, जिस प्रकार वह अतीत को वर्तमानमें सजीवित करके उसको

भी रंगमंच पर राम और-बुद्ध के चरित्रों का अवलंबन करके लिखे गये नाटक खेले गये हैं। रामावतार का अभिनय तो मलाया द्वीप समूह में ही नहीं, चीन तक में किया गया था।

हिंदू-नाटकों की इस श्री-वृद्धि का कारण यह है कि हिंदू मात्र की दृष्टि में नाटकों का धार्मिक महत्व है। योरप में नाट्यशालाओं के प्रति अनेक बार घृणा प्रदर्शित की गई। उन का प्रचार भी रोका गया। धार्मिक ईसाई का यह विश्वास था कि लोगों को पाप पथ पर ले जाने के लिए ही शैतान ने इन आमोद प्रमोदों की सृष्टि की है। रोम में नाटक-खेलने वालों का कुछ भी आदर नहीं होता था। चीन में उनकी संतानों को यह अधिकार न था कि वे परीक्षाओं में बैठ सकें। पर हिंदू लोग नाट्यशास्त्र को पंचम वेद मानते हैं। उनका विश्वास है कि भरत मुनि ने संसार के कल्याण के लिए उनका आविष्कार किया है।

सबसे प्राचीन नाट्य शास्त्र भरत मुनि का ही है। पाणिनि के समय में भी नाट्यशास्त्र प्रचलित थे। उन्होंने दो आचार्यों का उल्लेख किया है—शिलालिन और कृशाश्व। पतंजलि के समय में भी नाटक खेले जाते थे। उनके महाभाष्य में कंस-वध और बलि बंधन के खेले जाने का साफ साफ उल्लेख है।

हिंदू नाट्य-साहित्य का प्राचीनतम रूप देखने के लिए हमें वेदों की आलोचना करनी चाहिए। ऋग्वेद के कई सूक्तों में शुद्ध संवाद हैं—जैसे यम और यमी का संवाद, पुरूरवा और

अंकित किया गया। अंत तक यह नहीं जान पड़ता कि वह खूनी दानव है कि देवता। उसमें विपरीत भावों की अभिव्यक्ति इस तरह हुई है कि उसे हम यदि हत्याकारी मानें, तो भी उसमें दिव्य भावों की प्रधानता मालूम पड़ेगी। जार्ज मेरेडिथ के 'दी इगोइस्ट' नामक उपन्यास का नायक सचमुच कैसा था, यह न तो वह जान सका, और न उसके साथी ही। उपन्यास-भर में उसके चरित्र की इसी जटिलता का विश्लेषण किया गया है। रवींद्र बाबू के 'घरे-बाहिरे' नामक उपन्यास में सदीप जैसा इंद्रिय-परायण है, वैसा ही स्वदेश-वत्सल और वीर भी। इब्सन, मेटरलिंक अथवा रवींद्रनाथ की कुछ प्रधान नायिकाओं के चरित्र ऐसे अंकित हुए हैं कि जब हम अपने संस्कारों के अनुसार उन पर दृष्टिपात करते हैं, तो उनके चरित्र में हीनता देखते हैं, परंतु सत्य की ओर लक्ष्य रखने से यही कहना पड़ता है कि हम उनपर अपनी कोई सम्मति नहीं दे सकते।

हिंदू नाटकों की उन्नति प्राचीन काल ही में हो गई थी। मध्य एशिया में उपलब्ध एक ताड़पत्र के ग्रंथ से विदित होता है कि कुशन राजों के काल में ही—जब मध्य एशिया भारतीय-साम्राज्य के अंतर्गत था—हिंदू नाटकों की श्री-वृद्धि हो गई थी। छठी शताब्दी में हिंदू लोग जावा द्वीप में बस गए थे। वहाँ के छाया-नाटकों को देखकर हम जान सकते हैं कि हिंदू नाटकों का कितना प्रभाव उन पर पड़ा है। बर्मा, स्याम और क्रम्बोडिया में

ग्रीक नाट्यकार, जर्मन कवि और अंग्रेज शेक्सपियर आदि चरित्र-चित्रण में ही अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं । उनका विषय है मनुष्य । हिंदू नाटककारों का विषय है प्रकृति। उनके लिए प्रकृति ही यथार्थ में शिक्षा देने वाली है । यही कारण है कि हिंदू नाटक प्रकृति संबंधी उत्सवों में देखे जाते थे, अधिकतर वसंत के उत्सव में जब विश्व प्रकृति का नवजीवन आरंभ होता है । बिना दु:ख के, बिना तपस्या के पवित्रता नहीं आती । बिना आत्मत्याग के आत्मोन्नति नहीं होती । हिंदू नाटकों में यही भाव स्पष्ट करके दिखाया गया है ।

कभी हमारे देश में नाटकों का बड़ा आदर था । नाटक खेलने वाले नटों और नटियों की अच्छी प्रतिष्ठा की जाती थी। इतना ही नहीं उच्च कुल के स्त्री पुरुष भी नाट्य कला में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए चेष्टा करते थे। उनमें अभिनय कला की परीक्षा देने के लिए योग्य शिक्षक नियुक्त किये जाते थे। कालिदास के मालविकाग्नि मित्र-नाटक से ये सब बातें विदित होती हैं। अब नाटक-कला का पुनरुद्धार हो रहा है । महाराष्ट्र और बंगाल में अच्छी अच्छी नाटक मंडलियाँ हैं, और उनमें अच्छे अच्छे नाटक खेले जाते हैं।

जिन्होंने दूसरे देशों में नाटकों का अभिनय देखा है, वे जब भारतीय नाट्यशालाओं में प्रवेश करते हैं तब वहां की भद्दी सजावट देखकर विस्मित हो जाते हैं। यहां विदेशी दृश्यों की

उर्वशी का संवाद इत्यादि। इनकी गणना हम नाटकों में कर सकते हैं। पुरूरवा और उर्वशी का संवाद ही पुराणों में, कथा रूप में, विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है, और उसे ही कालिदास ने नाटक का रूप दिया है। जान पड़ता है, पहले पहल नाटकों में सिर्फ संगीत ही रहता था। पीछे से उनमें संवाद (अर्थात् भाषण या कथोपकथन) जोड़े गये हैं। फिर, इसके अनंतर, कदाचित् उनमें कृष्ण-चरित का समावेश किया गया है। कुछ भी हो, इसमें तो संदेह नहीं कि बहुत प्राचीन काल में ही नाटकों का अभिनय होने लगा था।

हिंदू नाटककार कार्यों और विचारों का खूब ख्याल रखते थे। उनके मर्मवाद ने सभी नाटकों की घटनाओं को कार्य-कारण की शृंखला में बाँध रक्खा है। हिंदू-साहित्य में संयोगांत और वियोगांत नाटक अलग अलग नहीं हैं। उनमें हर्ष और शोक के भाव मिश्रित रहते हैं। रंग भूमि में अत्यंत शोकोत्पादक अथवा विकार-वर्द्धक दृश्य नहीं दिखलाये जाते थे, क्योंकि ऐसा करने से मन विकृत हो जाने का डर था। शोक की उपेक्षा नहीं की जाती थी, पर जोर इस बात पर दिया जाता था कि शोक का सहन त्याग से किया जाना चाहिए। संसार जिन नियमों से बँधा है, वे हम लोगों के लिए श्रेयस्कर हैं।

प्रत्येक नाटक के आरंभ और अंत में आशीर्वादात्मक श्लोक रहते हैं। उनका विषय प्रायः धार्मिक ग्रंथों से लिया जाता है।

दिखाया जाय, तब वेनिस के स्थान मे जयपुर का दृश्य दिखलाना अधिक उचित होगा। भारतवर्ष के नाटककार भी अपने नाटकों के दृश्य की बिलकुल उपेक्षा करते हैं। कैसा भी दृश्य हो काम निकल जाता है। हमारी समझ में इससे तो बेहतर यही होगा कि परदों का कोई झमेला ही न रहे। दर्शक कथा भाग सुन कर अपने मन ही मे दृश्यों की कल्पना करलें। प्राचीन काल मे जब परदों का प्रचार नहीं था, तब ऐसा ही होता था।

भारतीय नाटकों में पात्रों के लिए उचित वेश भूषा तैयार करने के लिए विशेष योग्यता की जरूरत नहीं है। जरा भी बुद्धि से काम लेने से यह बात समझ मे आसकती है कि किसके लिए कौन सा परिच्छद उपयुक्त है। परतु आजकल तो सभी नाटक मडलियाँ अपने नटों को घुटने तक ब्रीचेस पहनाकर, भडकीला कोट डटाकर निकालना चाहती हैं। नकली दाढी और मूछ से चेहरे को विकृत करना इसलिए आवश्यक समझा जाता है कि दर्शक नटों को पहचान न सकें। परतु सर स्कायर बैनक्राफ्ट के समान प्रसिद्ध नट भी अपने यथार्थ रूप मे रग मच पर आने में नहीं हिचकते।

भारतीय नाटकों की कई विशेषताये हैं। यदि नाटककार और नट अपने अभिनय में भारतीयता का ख्याल रक्खें तो उससे बड़ा लाभ हो। रवींद्रनाथ का एक नाटक 'डाकघर' कलकत्ते में खेला गया था। उसमे भारतीयता का ख्याल रक्खा गया था। इससे उसे सफलता भी अच्छी हुई।

नकल तो जरूर की जाती है, पर सारा सामान इतना बेढँगा रहता है कि योरप की छोटी छोटी नाट्यशालाओं में भी इतनी बेढँगी चीजें नहीं रहतीं। जो लोग भारतवर्ष में नाटकों के लिए परदे रंगते हैं, वे विदेशी नाटकों का अनुकरण करते हैं। परतु विदेशी समाज से अनभिज्ञ रहने के कारण वे उनका रूप बिलकुल विकृत कर डालते हैं। अपनी अज्ञता के कारण जनता उन्हीं से सतुष्ट हो जाती है। इनसे भी भद्दी होती है भारतीय नटों की वेश-भूषा। जो लोग राजा, सामत, राजसेवक आदि का अभिनय करते हैं, उनकी पोशाक विलक्षण होती है। हम नहीं समझते कि भारतियों में कभी वैसे परिच्छद काम में लाए गये होंगे। हमें आशा है, भविष्य में भी कोई वैसी भद्दी पोशाक नहीं पहनेगा। गनीमत यही है कि स्त्री पात्रों में भारतीयता की रक्षा की जाती है। अपना वेश बदलने के लिए भारतीय नट चेहरे पर पाउडर लगा कर निकलते हैं। हम नहीं समझ सकते कि अपने चेहरे पर सफेदी लाने की यह विफल चेष्टा क्यों की जाती है।

भारतीय रगमच के दोष बिलकुल स्पष्ट हैं। इनसे नाटक का महत्व घट जाता है और उनका उद्देश निष्फल हो जाता है। इन दोषों के दूर करने की चेष्टा की जानी चाहिए। नाटकों में जिस युग का वर्णन है, उसी के अनुरूप दृश्य दिखलाए जायँ। भारतीय रगभूमि में जब किसी सडक अथवा महल का दृश्य

दिखाया जाय, तब वेनिस के स्थान मे जयपुर का दृश्य दिखलाना अधिक उचित होगा। भारतवर्ष के नाटककार भी अपने नाटकों के दृश्य की बिलकुल उपेक्षा करते है। कैसा भी दृश्य हो काम निकल जाता है। हमारी समझ में इससे तो बेहतर यही होगा कि परदों का कोई झमेला ही न रहे। दर्शक कथा भाग सुन कर अपने मन ही मे दृश्यों की कल्पना करले। प्राचीन काल मे जब परदों का प्रचार नहीं था, तब ऐसा ही होता था।

भारतीय नाटकों मे पात्रों के लिए उचित वेश भूषा तैयार करने के लिए विशेष योग्यता की जरूरत नहीं है। जरा भी बुद्धि से काम लेने से यह बात समझ मे आसकती है कि किसके लिए कौन सा परिच्छद उपयुक्त है। परतु आजकल तो सभी नाटक मडलियाँ अपने नटों को घुटने तक ब्रीचेस पहनाकर, भडकीला कोट डटाकर निकालना चाहती हैं। नकली दाढी और मूछ से चेहरे को विकृत करना इसलिए आवश्यक समझा जाता है कि दर्शक नटों को पहचान न सके। परतु सर स्कायर बैनक्राफ्ट के समान प्रसिद्ध नट भी अपने यथार्थ रूप मे रग मच पर आने में नहीं हिचकते।

भारतीय नाटकों की कई विशेपतायें हैं। यदि नाटककार और नट अपने अभिनय मे भारतीयता का ख्याल रक्खे तो उससे बड़ा लाभ हो। रवींद्रनाथ का एक नाटक 'डाकघर' कलकत्ते में खेला गया था। उसमे भारतीयता का ख्याल रक्खा गया था। इससे उसे सफलता भी अच्छी हुई।

हिंदी के कुछ नाटककार संगीत के ऐसे प्रेमी हैं कि वे मौके-बे-मौके अपने पात्रों से गाना ही गवाया करते हैं। राजा की कौन कहे राज-महिषी तक अपने पद का गौरव भूलकर नाचने-गाने लग जाती हैं। राजसभा तो बिलकुल संगीतालय ही हो जाती है। यह भी खेद की बात है।

कवि और कविता

[श्री गुलाबराय]



मानव प्रकृति में जड और चेतन दोनो ही प्रकृतियों का योग रहता है। मनुष्य की जड प्रकृति उसको अन्य जड पदार्थों की भाति नियम के बधन में जकडे रखती है और उसकी आध्यात्मिक प्रकृति अपने स्वातत्र का परिचय देती हुई, उसको नियम और कार्य्य-कारण शृखला से ऊँचा ले जाती है। इसी आध्यात्मिकता मे उसके विकास की आस भरी रहती है। यह आध्यात्मिक प्रकृति जड ससार को भी प्रभावित कर उसे सौंदर्यमय बनाती है। यही उसे काव्य और कला का मूलाधार बनाती है। यद्यपि समस्त मानवीय क्रियाओं में आध्यात्मिकता का अश रहता है तथापि कुछ में इसका विशेष रूप से विकास देखा जाता है। वाह्य पदार्थों द्वारा आत्मिक भावों के व्यजन को ही कला कहते हैं। कला द्वारा प्राकृतिक पदार्थ आध्यात्मिकता धारण कर लेते हैं और आध्यात्मिक भाव ससार में मूर्तिमान दिखाई पडने लगते हैं। कला में चेतन संसार की जड ससार के ऊपर विजय लाभ की घोपणा रहती है। जैसे जैसे यह विजय प्रकाश को प्राप्त होती है, वैसे ही कला की भी उन्नति होती जाती है।

उन्नत कलाओं मे आध्यात्मिकता का विकास अधिक दिखाई पडने लगता है। उनमें चेतन जड को अपने शासन में लाकर पूर्णतया अपने अनुकूल बना लेता है। सामग्री पर विजय प्राप्त करने और उसको पूर्णतया अपने वशीभूत करने और इसके वशीभूत न होने मे ही कला की उन्नति का परिणाम है। पूर्ण उन्नत कला मे आध्यात्मिक-भाव बिना किसी रुकावट के प्रस्फुटित हो जाते है। इस परिणाम से हैगिल ने कलाओं में काव्य को सबसे उच्च स्थान दिया है। सामग्री से स्वतत्र होने का आदर्श अपने यहा बहुत प्राचीनकाल से वर्तमान है। श्रीमम्मटाचार्य ने कवि की भरती की प्रशसा करते हुए काव्य को स्वतत्र और आनदमय बतलाया है :—

> नियतिकृतनियमरहिता ह्लादैक-मयी-मनन्य परतत्राम्।
> नवरसरुचिरा निर्मितिमादधनी भारती कवेर्जयति ॥

अर्थात् नियति (भाग्य) के नियमों के बधन से रहित, केवल आनद से ही भरपूर, दूसरे की वश्यता से रहित, नव रसों से सुशोभित कवि की वाणी की जय होय।

इस पद्य में जो विशेषण आए हैं, वे काव्य की उच्चता के कारण-स्वरूप हैं। और, हैगिल ने जो काव्य को कलाओं में सर्व श्रेष्ठ स्थान दिया है वही इस अनन्य-परतत्रता के आधार पर है। इस पद्य में कवि की रचना को ब्रह्मा की रचना से प्रधानता दी गई है। ब्रह्मा की रचना भाग्य के नियमों पर निर्भर रहती है

किंतु कवि की रचना ऐसे बधनों से मुक्त है । वास्तव मे कविता अनन्य परतत्रा होने के कारण सब बधनों से मुक्त है। काव्य में आत्मा का पूर्ण प्रभाव प्रकाशित होता है । वाह्य सामग्री का आश्रय और बधन नहीं रहता । केवल स्वातत्र और आनद का प्रसार होता है । आत्मा नियति के बधनो पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होती है किंतु कठिनता के साथ । जब तक उन बधनों का प्रभाव रहता है तब तक गति कुठित सी रहती है । काव्य के ससार मे आत्मा की गति अकुठित हो जाती है। नियम के बधनों से मुक्त होने का अर्थ उच्छृखलता नहीं , उसमे शृखला रहती है । किंतु वह लोहे की जड नहीं, वरन् भावों की चेतन शृखला है, जिसको प्राकृतिक नियमों का भार नहीं तोड सकता । यह शृखला देश और काल के परिणाम मे सकुचित नहीं होती, वरन् उसका प्रसार आकाश से पाताल तक व्याप्त हो जाता है । इस स्वतत्रता में नियम विरुद्वता नहीं वरन् आत्मा का उल्लास और विकास भरा हुआ है। काव्य उसी आध्यात्मिक स्वतत्रता के प्रभाव का फल है जो जड नियमों के प्रस्तर खडों को तोड कर स्वच्छद रूप से प्रवाहित होने का सामर्थ्य रखता है , यदि वह नियमबद्ध है तो वह नियम दूसरों के आश्रित नहीं । काव्य छद के नियमों से बँधा हुआ बतलाया जाता है किंतु यह छद के नियम बाहरी नहीं हैं । काव्य उन नियमों का अनुकरण नहीं करता, वरन् यह नियम

काव्य की गति के वर्णन स्वरूप हैं। छद के नियम आत्मा की स्वतत्र स्पदन गति के क्रम को बतलाते हैं। वह क्रम जीवन के प्रवाह से निकलता है और उसके काले अक्षरों में प्रस्तरीभूत हो जाने पर ही वह नियम के शासन में आता है, ऐसी ही स्वतन्त्रता सौंदर्य के आनद से भर पूर रह कर स्थायित्व धारण करती है। जहापर गति कुठित होती है, अभिलाषा की अपूर्णता रहती है और महत्वाकाक्षाएँ सकुचित हो जाती हैं वहीं पर आनद का ह्रास होता है। किंतु जहा पर जीवन रस का प्रवाह अकुठित रूप से बहता रहता है, वहा पर आनद का ही साम्राज्य है। काव्य उसी जीवन प्रवाह का एक उत्तम फल है। वह फल कैसा है? उसका रग, रूप, स्वाद और स्पर्श आदि कैसा है? इसको आगे चल कर बतलायेंगे। काव्य क्या है, इसका उत्तर देना बहुत ही कठिन है, किंतु इसके सबंध में जो कुछ आचार्यों के मत हैं, वे यहाँ सक्षेप से दिये जाते हैं —

यह मत पाच है—

(१) अलकार को काव्य की आत्मा माननेवाले।

(२) ध्वनि को काव्य की आत्मा माननेवाले।

(३) रीति को काव्य की आत्मा माननेवाले।

(४) वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माननेवाले।

(यह एक प्रकार से पहले ही मत के अतर्गत है)

(५) रस को काव्य की आत्मा माननेवाले।

इन विशेष मतों के पारस्परिक मूल्य पर हम वाद विवाद न करके सिद्धांत रूप से यह कहना आवश्यक और उचित समझते हैं कि काव्य की आत्मा रस है। रस लोकोत्तर आनंद को कहते हैं।

काव्य एक पुरुष है, जिसका शरीर शब्द और अर्थ है। ध्वनि और रस उसके प्राण हैं। प्राण से ही जीवन का कार्य चलता है। किंतु आत्मा उससे ऊँची है। काव्य शरीर में आत्मा का काम रस करता है। आत्मा के बिना प्राण भी कुछ नहीं कर सकते हैं। आत्मा की सत्ता से ही प्राण काम करते हैं। रस के होते हुए भी ध्वनि काव्य को सजीव बनाती है। माधुर्यादि उसमें गुण हैं। ये गुण उससे उत्कर्ष को बढाने के कारण होते हैं। मनुष्य तो सभी होते हैं, किंतु शीलवान मनुष्य का और ही मान होता है। इसी प्रकार माधुर्यादि गुणों से मंडित काव्य आदरणीय होते हैं। किंतु यह गुण सजीव काव्य में ही रह सकते हैं। गुणों का आत्मा से विशेष संबंध है, जैसे अलंकारों का शरीर से। शब्द और अर्थ शरीर हैं, इसीलिए अलंकार शब्द और अर्थ दोनों के ही हैं। अलंकार आभूषण का काम करते हैं। जो सुंदर वस्तु है उसकी सुंदरता को बढा देते हैं, किंतु वह सौंदर्य का स्थान नहीं ले सकते। वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली आदि रीतियाँ जो गुणों से विशेष संबंध रखती हैं, काव्य शरीर का सुसंगठन करती हैं।

इसी सगठन के ऊपर काव्य शरीर का सौंदर्य निर्भर है। जैसे मनुष्य में कोई काना या बहरा होता है । यह दोप उसके गुणो को घटाने वाले होते हैं—ऐसे ही काव्य मे श्रुतिकटु आदि दोप होते हैं। ये उसके गुणको घटाते हैं । इसमें काव्य पुरुप का पूरा स्वरूप कहा गया है। इसका रस ही आत्मा है और जैसे आत्मा के साथ प्राण रूप गुण अलकार आदि लगे हुए हैं, वैसे ही ध्वनि, रीति और अलकार लगे हुए हैं।

काव्य के कारण—

नीचे की कारिका मे काव्य का हेतु दिया गया है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्
काव्यज्ञ-शिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।

अर्थात्, शक्ति, निपुणता जो कि लोकशास्त्र और काव्य को देखने से प्राप्त होती है और काव्यज्ञ की शिक्षा द्वारा अभ्यास—यह तीनों काव्य के उदय में कारण माने गए हैं। यह तीनों अलग अलग नहीं हैं, वरन् तीनों मिलकर एक कारण हैं। इसलिए हेतु शब्द का जो एक वचन है, प्रयोग किया गया है।

शक्ति—

शक्ति की इस प्रकार परिभाषा की गई है,—

शक्ति कवित्वबीजरूप सस्कारविशेष

कविता के बीजरूप सस्कार को शक्ति कहते हैं।

प्रत्येक मनुष्य मे कुछ नैसर्गिक झुकाव रहते हैं। जिसमें कविता करने का नैसर्गिक झुकाव होता है वही कवि बन सकता है। इसीलिए कहा गया है कि कवि पैदा होते हैं, बनाये नहीं जाते। यही नैसर्गिक शक्ति कवि को और लोगों से विशेषता देती है। इसके बिना इतिहास विज्ञान केवल वर्णनात्मक रह जाते हैं। यही शक्ति कवि की प्रतिभा का कारण होती है। अभ्यास और शास्त्र ज्ञान इसको दीप्त कर सकते हैं, किंतु इसके अभाव मे न शास्त्र ज्ञान ही काम देगा और न अभ्यास। यह प्रतिभा एक अलौकिक वस्तु है जो जन्म से ही सिद्ध होती है। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य कवि नहीं बन सकता। अभ्यास और नियमों के आधार पर की हुई कविता प्राय निर्जीव होती है। सजीव कविता वही होती है जो हृदय के स्रोत से आवेग के साथ प्रवाहित होती है। कविता का आरंभ भी हृदय की एक मार्मिक वेदना में हुआ है। आदि कवि वाल्मीकि जी के शोकोद्वेग से इस प्रथम श्लोक की आविर्भूति हुई —

मानिषाद प्रतिष्ठाम् त्वमगम शाश्वती समा।
यत्क्रौंच मिथुनोदेकमवधी काममोहिताम्॥

शक्ति का रुद्रट ने इस प्रकार लक्षण दिया है —

मनसि सदा सुसमाधिनी विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानिच विभाति यस्यामसौ शक्ति॥

अर्थात्, शक्ति वह है जिसके द्वारा मन स्थिर होकर अनेक

प्रकार के अर्थों का स्फुरण करता है और जिससे कठिनता रहित पदों का प्रकाश होता है, वह शक्ति कहलाती है। संक्षेप से शक्ति कवि की उस सूझ को कहते हैं, जिसके द्वारा नये नये अर्थ, उक्तियाँ और बारीकियाँ उदय होने लगती हैं, उन्हीं के अनुकूल अच्छे अच्छे पद उपलब्ध हो जाते हैं और छंद-शास्त्र के नियम अध्ययन से आ जाते हैं। अभ्यास परिश्रम साध्य है, किंतु शक्ति स्वाभाविक ईश्वरदत्त पदार्थ है। यह बहुत दुर्लभ है, ऐसा कहा भी गया है —

> नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र च दुर्लभा।
> कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सु दुर्लभा॥

निपुणता—

यद्यपि प्रतिभा काव्य के लिए परम आवश्यक है तथापि बिना सामग्री के केवल प्रतिभा फलवान नहीं होती। इस सामग्री में लोक अर्थात देशदेशांतरों के जलवायु, रीतिरिवाज, रहन-सहन का परिज्ञान, शास्त्र अर्थात् इतिहास पुराण आदि का जानना और काव्य के नियमों से परिचय आदि सब बातें सम्मिलित हैं। इसमें अपना अनुभव और निरीक्षण भी सम्मिलित समझना चाहिए। क्योंकि जो बात अपने अनुभव से प्राप्त होती है, वह शास्त्र के अध्ययन से नहीं होती। क्योंकि अपने अनुभव पर पूर्ण अधिकार रहता है और शास्त्र का ज्ञान दूसरे का ही अनुभव होता है।

अभ्यास—

अभ्यास भी एक आवश्यकीय वस्तु है। शक्ति और निपुणता के होते हुए अभ्यास बिना काम नहीं चलता। अभ्यास में साहित्य की मर्मज्ञता की आवश्यकता है। यद्यपि काव्य नियम के बंधनों से बँधा हुआ नहीं है तथापि नियमों का ज्ञान अनवधानता से किये हुए दोषों को परिमार्जित कर देता है। काव्य जहाँ तक अदोष रहे उतना ही अच्छा है।

काव्य का फल और उद्देश्य—

काव्य में धर्म अर्थ काम मोक्ष सभी की प्राप्ति बतलाई गई है किंतु उन सब में आनंद मुख्य है। देखिये—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधु काव्य निषेवणम्॥

अर्थात्, अच्छे काव्य के सेवन से धर्म अर्थ काम मोक्ष चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है। कलाओं में विचक्षणता आती है। काव्य कीर्ति और प्रीति को उत्पन्न करता है।

काव्य प्रकाश में यही बात इस प्रकार बतलाई गई है —

काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहार-विदे शिवेतरक्षतये।
सद्य परनिर्वृतये कांता सम्मित तयोपदेश युजे॥

काव्य के छः प्रयोजन हैं—(१) यशलाभ, (२) धनलाभ, (३) व्यवहार का ज्ञान, (४) अमंगल से रक्षा, (५) तुरत परमानंद की प्राप्ति और (६) कांता के समान प्रेममय उपदेश।

यश—

कालिदास आदि ने यश का अर्थ काव्य किया है। यशेप्सा मनुष्यजाति में स्वाभाविक है। यश को धन से प्रधानता इसी लिये दी गई है कि धन चिरस्थायी नहीं होता। केशव भूषणादि ने जो धनोपार्जन किया वह अतीत के सागर तल में विलीन हो गया, किंतु उनकी अक्षय कीर्ति अभी तक वर्तमान है। कवि की कीर्ति ही उसको अमर बनाती है।

आजकल जो हिंदी साहित्य सेवा हो रही है वह प्राय यश के लिए हो रही है, किंतु उसमें यह नहीं जो यशेप्सी कवियों की कविता में होती है। वास्तव में कवि लोग यशेप्सी नहीं होते, वरन् यश उनको अपने आप प्राप्त होता है। महात्मा तुलसीदास जी ने रामचरितमानस यश के लिए नहीं लिखा, वरन् स्वात सुखाय। किंतु उनके यश का सूर्य और कवियों के यश को मंदीभूत कर रहा है। केवल यश को लक्ष्य करके लिखना प्राय उतना ही बुरा है जितना धन को अपना परम-ध्येय बनाना। अपने विचारों को भली भाति प्रकट कर लेना ही लेखक का अतिम उद्देश्य होना चाहिये। साहित्य मे निष्काम कर्म की बडी आवश्यकता और बडा महत्व है।

धन-लाभ—

धन भी यश की भाँति एक वाछित पदार्थ है। किंतु धन पानेवालों को समाज मे इतना सम्मान नहीं मिलता जितना

नि स्वार्थ सेवक को। केवल धन के लिए जो काव्य रचना की जाती है, उसमें वह सजीवता नहीं रहती जो कि स्वातः सुखाय लिखी जाने वाली कविताओं में रहती है।

यद्यपि बिना धन के काम नहीं चलता और यश से पेट भी नहीं भरा जाता, किंतु तो भी धन को मुख्य लक्ष्य बनाना उचित नहीं। जहाँ पर धन लक्ष्य बना लिया जाता है, वहाँ पर काव्य में शैथिल्य आ जाता है, क्योंकि धन लोलुप का अभीष्ट पन्ने रंगने का रहता है। वह अपनी रचना को सर्वोत्तम बनाने के लिये नहीं ठहर सकता। यदि प्रकाशक स्वीकार करने को तैयार है तो उसे और कुछ नहीं चाहिए। इसी के साथ प्रकाशकों को भी चाहिये कि अपनी उदारता द्वारा कवियों के हृदय से धन-लोलुपता निकाल दें।

व्यवहार विदे—

काव्य के पढ़ने से काव्य में वर्णित देशों और पुरुषों का व्यवहार मालूम हो जाता है। कालिदास के समय की सभ्यता का हमको उनके ग्रंथों से ही पता लगता है। यदि देश का इतिहास मिट जाय तो भी साहित्य से बहुत कुछ पता लग सकता है।

शिवेतरक्षतये—

अमंगल से रक्षा। कुछ लोगों का विश्वास है कि कविता द्वारा की हुई प्रार्थना शीघ्र स्वीकार हो जाती है। गोस्वामीजी का

यश—

कालिदास आदि ने यश का अर्थ काव्य किया है। यशेप्सा मनुष्यजाति मे स्वाभाविक है। यश को धन से प्रधानता इसी लिये दी गई है कि धन चिरस्थायी नहीं होता। केशव भूषणादि ने जो धनोपार्जन किया वह अतीत के सागर तल में विलीन हो गया, किंतु उनकी अक्षय कीर्ति अभी तक वर्तमान है। कवि की कीर्ति ही उसको अमर बनाती है।

आजकल जो हिंदी साहित्य सेवा हो रही है वह, प्राय यश के लिए हो रही है, किंतु उसमें यह नहीं जो यशेप्सी कवियों की कविता मे होती है। वास्तव में कवि लोग यशेप्सी नहीं होते, वरन् यश उनको अपने आप प्राप्त होता है। महात्मा तुलसीदास जी ने रामचरितमानस यश के लिए नही लिखा, वरन् स्वात सुखाय। किंतु उनके यश का सूर्य और कवियों के यश को मदीभूत कर रहा है। केवल यश को लक्ष्य करके लिखना प्राय उतना ही बुरा है जितना धन को अपना परम-धेय बनाना। अपने विचारों को भली भाति प्रकट कर लेना ही लेखक का अतिम उद्देश्य होना चाहिये। साहित्य में निष्काम कर्म की बडी आवश्यकता और बडा महत्व है।

धन-लाभ—

धन भी यश की भाँति एक वाछित पदार्थ है। किंतु धन पानेवालों को समाज में इतना सम्मान नहीं मिलता जितना

नि स्वार्थ सेवक को। केवल धन के लिए जो काव्य रचना की जाती है, उसमें वह सजीवता नहीं रहती जो कि स्वात. सुखाय लिखी जाने वाली कविताओं मे रहती है।

यद्यपि बिना धन के काम नहीं चलता और यश से पेट भी नहीं भरा जाता, किंतु तो भी धन को मुख्य लक्ष्य बनाना उचित नहीं। जहाँ पर धन लक्ष्य बना लिया जाता है, वहाँ पर काव्य मे शैथिल्य आ जाता है, क्योंकि धन लोलुप का अभीष्ट पन्ने रगने का रहता है। वह अपनी रचना को सर्वोत्तम बनाने के लिये नहीं ठहर सकता। यदि प्रकाशक स्वीकार करने को तैयार है तो उसे और कुछ नहीं चाहिए। इसी के साथ प्रकाशकों को भी चाहिये कि अपनी उदारता द्वारा कवियों के हृदय से धन-लोलुपता निकाल दें।

व्यवहार विदे—

काव्य के पढने से काव्य में वर्णित देशो और पुरुषो का व्यवहार मालूम हो जाता है। कालिदास के समय की सभ्यता का हमको उनके ग्रथों से ही पता लगता है। यदि देश का इतिहास मिट जाय तो भी साहित्य से बहुत कुछ पता लग सकता है।

शिवेतरक्षतये—

अमगल से रक्षा। कुछ लोगों का विश्वास है कि कविता द्वारा की हुई प्रार्थना शीघ्र स्वीकार हो जाती है। गोस्वामीजी का

यश—

कालिदास आदि ने यश का अर्थ काव्य किया है। यशेप्सा मनुष्यजाति मे स्वाभाविक है। यश को धन से प्रधानता इसी लिये दी गई है कि धन चिरस्थायी नहीं होता। केशव भूषणादि ने जो धनोपार्जन किया वह अतीत के सागर तल मे विलीन हो गया, किंतु उनकी अक्षय कीर्ति अभी तक वर्तमान है। कवि की कीर्ति ही उसको अमर बनाती है।

आजकल जो हिंदी साहित्य सेवा हो रही है वह प्राय' यश के लिए हो रही है, किंतु उसमें यह नहीं जो यशेप्सी कवियों की कविता में होती है। वास्तव मे कवि लोग यशेप्सी नहीं होते, वरन् यश उनको अपने आप प्राप्त होता है। महात्मा तुलसीदास जी ने रामचरितमानस यश के लिए नहीं लिखा, वरन् स्वात सुखाय। किंतु उनके यश का सूर्य और कवियों के यश को मदीभूत कर रहा है। केवल यश को लक्ष्य करके लिखना प्राय उतना ही बुरा है जितना धन को अपना परम-धेय बनाना। अपने विचारों को भली भाति प्रकट कर लेना ही लेखक का अतिम उद्देश्य होना चाहिये। साहित्य में निष्काम कर्म की बडी आवश्यकता और बडा महत्व है।

धन-लाभ—

धन भी यश की भाँति एक वाछित पदार्थ है। किंतु धन पानेवालों को समाज मे इतना सम्मान नही मिलता जितना

दृश्य काव्य मे नाटकादि आ जाते हैं क्योंकि वह हमारे सामने दिखाये जा सकते हैं और दूसरे सब काव्य श्रव्य में आते हैं। श्रव्य के तीन भेद किये गये हैं—गद्य, पद्य और मिश्रित। जो साधारण बोलचाल की भाषा में लिखा जाता है और जिसके वाक्यों में नाप-तौल का विचार नहीं रहता, वह गद्य होता है। पद्य में वाक्य के अक्षरों की नाप तोल रहती है और मिश्रित में गद्य पद्य दोनों शामिल रहते हैं।

गद्य और पद्य—

साहित्य के इतिहास में, विशेषकर भारतवर्ष में कालिक क्रम से पद्य को पहला स्थान मिलता है। भारतवर्ष में इतिहास, भूगोल और वैद्यकादि सभी विषयों के ग्रंथ पद्य में लिखे गये हैं। इसका एक तो विशेष कारण यह है कि पद्य गद्य की अपेक्षा स्मरण रखने में सुगम है। हमारे यहाँ कठस्थ विद्या का अधिक मूल्य रहा है। कहा भी है —

पुस्तकस्था तु या विद्या पर हस्तेषु गत धन।
कार्य्य काले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्॥

यह तो सुभीते की बात रही है। इसके अतिरिक्त प्राचीन लोगों में कल्पना और भाव की आजकल की अपेक्षा प्रधानता रही है। भाव और कल्पना ही कविता के मुख्य उत्तेजक हैं। पहले जमाने मे जरा-सी बात पर लोग जान देने को तैयार हो जाते थे। हम आजकल प्रत्येक वस्तु का मूल्य रुपये आने पाई में

हनुमान बाहुक उनके व्यक्तिगत दुख के निवारणार्थ बना गया था।

सद्य परनिर्वृतये—

तत्काल परमानद की प्राप्ति। काव्य की आत्मा रस बतल गई है। रस आनद ही को कहते हैं। काव्य के सेवन परमानद की प्राप्ति स्वाभाविक ही है पर काव्य के पढने मनुष्य दुखमय ससार को भूल जाता है और आनद के साग में गोते खाने लगता है। यह सुख और आनद जब तक लौकि रहता है, तब तक तो चिरस्थायी नहीं होता, किंतु थोडे काल अलौकिक होकर मोक्ष का साधन बन सकता है।

काता सम्मित तयोपदेश युजे—

कांता के समान प्रिय उपदेश देने वाला काव्य ही है। उपदेश प्राय कटु होते हैं। कहा भी है —

'हित मनोहारि च दुर्लभ वच'

हित की और मनोहर बात बहुत दुर्लभ होती है। परतु स्त्री का उपदेश प्रेमजन्य होता है और उसका माधुर्य्य उसके उपदेश को भी माधुर्य्य दे देता है। काव्य का उपदेश भी ऐसा ही होता है —

काव्य के विभाग—

हमारे यहाँ आचार्य्यों ने काव्य का विभाग इस प्रकार किया है :—पहले तो काव्य को दृश्य और श्रव्य मे विभाजित किया है

खींचतान ही होगी और यथेष्ट अभिप्राय भी प्रकट न हो सकेगा। उदाहरणत यदि कोई प्लेग और हैजे के कीटाणुओं के सवध में पद्य मे कुछ लिखे तो यही समझा जायगा कि यह अपनी कवित्व शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता है, वैज्ञानिक सिद्धात का प्रतिपादन नहीं करना चाहता। यदि कोई कहीं जाने वाला है और उससे कविता में पूछा जाय कि तू कहा जायगा ? तो वह उसको एक प्रकार की विक्षिप्तता ही समझेगा।

इतना कहते हुए भी यह कहना पडेगा कि जो सौंदर्य पद्य में है वह गद्य में नहीं आ सकता और जो विषय गद्य मे लिखे जाने योग्य हैं उनके लिए पद्य की अब भी आवश्यकता है। पद्य के नपे तुले वाक्य, वृत्तों का सरस बहाव हमारे चित्त मे एक अपूर्व साम्य और आनद की उत्पत्ति कर देता है जो गद्य में कठिनाई के साथ ही आ सकता है। पद्य में भाव और भाषा की एकाकारिता हो जाती है। वीर रस के भावो की भाषा ओजपूर्ण होती है और शृगार की माधुर्यमय। इसी के अनुकूल कोमल और परुषा वृत्तियों के अल्प प्रयास वाले अक्षर रहते हैं। कविता के वृत्तों में एक अपूर्व साम्य का भाव रहता है जो हमारे मन में तदनुकूल साम्य की जागृति कर देता है। वृत्त द्वारा अनेकता में एकता स्थापित हो जाती है क्योंकि अक्षर विभिन्न होते हुये भी उनकी सख्या, उनकी मात्राए और प्राय उनके दीर्घ और लघु होने का क्रम विशेष कर अतिम शब्दों का एक सा

देखते हैं। ऐसी अवस्था मे पद्य के लिये स्थान नहीं। गद्य और पद्य दोनों ही अपनी अपनी विशेषताएँ रखते हैं।

गद्य मे विस्तार और संक्षेप दोनों के लिए स्थान रहता है। जहाँ पर बात विस्तार से कहना हो वहाँ पर विस्तार से काम लिया जा सकता है। नियम के हेतु संकोच करने की आवश्यकता नहीं रहती। गद्य में भाव को भाषा के अधीन नहीं रहना पड़ता। यद्यपि गद्य और पद्य दोनों में ही भाव और भाषा की उत्तमता पर ध्यान रखना पड़ता है तथापि पद्य में भाषा का और अधिक ध्यान रखना पड़ता है। कुछ बातें ऐसी हैं जो गद्य में ठीक लिखी जा सकती हैं। पद्य में शुष्क नीरस बातों का लिखना शोभा नहीं देता। केवल तुक मिलाना ही पद्य नहीं है। पद्य में खनिज शास्त्र, भूगर्भ विद्या, प्राणिशास्त्र तथा अन्य वैज्ञानिक और दार्शनिक बातो का लिखना शोभा नहीं देता। आज कल तो नाटकों में पद्य को मनुष्य की बोलचाल की स्वाभाविक भाषा समझ स्थान दिया जाता है। मन्त्रीगण का सभा में खडे होकर और गाकर बात करना अस्वाभाविक एवं हास्यास्पद प्रतीत होता है। गद्य में जो बात लिखी जाती है, उसमें गांभीर्य की अधिक मात्रा रहती है। कविता में मार्मिक वेदनाओं का लिखा जाना ठीक है, किंतु यदि साधारण बात को भी कविता में लिखा जाय तो उसमें हास्य की मात्रा आ जाती है। अथवा जो बातें विज्ञान से सबध रखती हैं उनका पद्य मे लिखा जाना एक प्रकार की

कविता का ह्रास हो रहा है वह इसी कारण है कि हमने अपने दृष्टि-कोण को विस्तृत नहीं किया है। प्रत्येक युग की पृथक् पृथक् आवश्यकताएँ होती हैं और सत्कवि उन आवश्यकताओं को समझ युग के सदेश को लोगों के हृदय तक पहुँचा देता है। जो कठिनाइयाँ और वेदनाएँ साधारण जनता अनुभव करती है और अपनी अज्ञता के कारण प्रकाश करने में मूक रह जाती है, उसको कवि स्पष्ट शब्दों में ससार के सम्मुख रख कर समाज का बड़ा उपकार करता है। ऐसे उपकार करने का अवसर हर समय रहता है। आजकल जो समाज के वायुमडल में भाव घूम रहे हैं, उनको स्पष्टता से मूर्तिमान करना कवि का परम कर्त्तव्य है। आजकल के युग मे दो मुख्य भाव हैं। दीनों और पतितों की पूजा और कर्त्तव्य परायणता इन विषयों पर जो भाव पूर्ण पद्य लिखे जायँगे वे समाज को सर्वथा ग्राह्य होंगे। इन मुख्य विषयों के अतिरिक्त और भी ऐसे अनेक विषय हैं जिनके वर्णन सुनने के लिए समाज सदा उत्सुक रहता है। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन, वीर पुरुषों का एव अन्य महज्जनों का गुणगान, प्रेम का आत्मत्याग, अहिंसात्मक हास्य, उत्साह-वर्द्धक भाव और पवित्रता तथा चरित्र सबधी उपदेश आदि ऐसे विषय हैं जो कवि की लेखनी के लिए विस्तृत क्षेत्र हैं।

उपर्युक्त विषय कविता के प्रधान विषय हैं, किंतु इन पर लिखने का वही अधिकारी है जो इनका स्वय अनुभव कर सके। कविता मे यदि कोई बात आवश्यक है तो यह कि कवि स्वय

रहता है। हमारे इस एकाकारिता के कारण हमारा मन एक विशेष बहाव में पड जाता है और उस बहाव के अनुकूल शब्दों की आवृत्ति होने से विशेष सुख होता है। छद शब्द छद् धातु से बना है जिसका अर्थ आच्छादन करने का है। जो चीज आच्छादित की जाती है वह उसके भीतर आ जाती है। छद में कही हुई बात एक आकार के भीतर आ जाती है। कविता में इस वाह्य सौंदर्य्य की प्रधानता के अतिरिक्त एक आतरिक सौंदर्य्य भी रहता है जो हमारे भावों पर एक विशेष प्रभाव डालता है और यही रस की उत्पत्ति के लोकोत्तर आनद का कारण होता है।

यद्यपि यह युग गद्य का युग समझा जाता है तथापि मानव-समाज नितात भाव शून्य नहीं हुआ है। इसमें प्रेम, दया, सौजन्य आदि कोमल भावों के लिए अब भी स्थान हैं। आज कल भी हम श्रीरामचद्रजी के वन गमन का वृत्तात पढकर दुखित हो जाते हैं, और शकुतला का आश्रम के वृक्षों से विदा माँगते पढकर हमें अपनी पुत्रियों और भगिनियों की विदा का स्मरण हो आता है और प्रेम के आँसू बहने लगते हैं। किसी दीन दुखिया की कठिन वेदना का वर्णन पढकर हृदय दयार्द्र हो जाता है। जब तक मनुष्य के हृदय मे प्रेम और दया का स्रोत सूख न जायगा, तब तक कविता के लिए स्थान रहेगा।

कविता के लिए विषयों की कमी नहीं है। आजकल जो

दय जनों तक पहुँचा देती है। कहा भी है कि जहा न जाय
तहा पहुँचे कवि। कवि केवल वही नहीं है जो छंद रचना
सके वरन् कवि की सी प्रकृति रखने वाले सभी कवि कहलाते
कवि और कवि की सी प्रकृति रखने वाले पुरुषों की समाज
सदा आवश्यकता रहती है। जो सहृदय समाज और प्रकृति
ईश्वरीय रचना रूप से देखकर उसमें अपना सेवा भाव
ते हैं और अपने अस्तित्व में ससार और समाज का अस्तित्व
रस्थायी और सुखमय बनाने का प्रयत्न करते हैं, अपने हृदय
निकले हुए दिव्य-सदेश को चारों ओर पहुँचाकर प्रात कालीन
देत विहगों के कलरव से ससार की जागृति का परिचय देते
वही धन्य हैं, वही देश और समाज का मुख उज्ज्वल करते हैं
र उन्हीं का यश शरीर जरा मरण के भय से मुक्त रहता है।
से ही कवियों के लिए महात्मा भर्तृहरि ने कहा है —

> जयति ते सुकृतिनो रस सिद्धा कवीश्वरा
> नास्ति येषां यश काये जरा मरणज भयम्।

अपने भावो का पूरा पक्षपाती हो, जो भाव वह प्रकट करे, वह दृढ निश्चय के साथ करे। जिन कवियों ने दृढ निश्चय के साथ लिखा है उन्हीं की कीर्ति ससार मे अक्षय रही है। महात्मा तुलसीदास जी की लोक-प्रियता का यही एक मुख्य कारण है कि जो कुछ उन्होंने लिखा वह दृढ निश्चयसे लिखा है। वह भाव हृदय के अतर-स्रोत से निकल सारे ससार में फैलकर उसको पवित्र करने लगे हैं। कवि कभी मिथ्या भाषण नहीं करता। उसकी बात चाहे वास्तविक दृष्टि से असत्य हो, किंतु वह असत्य को असत्य जानकर सत्य बनाने का प्रयत्न नहीं करता। वह जो कुछ लिखता है उसको अपनाकर ही लिखता है। वह कोरा इतिहासकार नहीं, जो ग्रामोफोन या केमरा की भांति घटनाओं को दुहरा दे। कवि घटना को ही नहीं वरन् समस्त बाह्य ससार को अपने कल्पना कुञ्ज मे स्थान दे, उसको आत्मीय बना लेता है और उसी आत्मीयता के भाव से वर्णन करता है। आजकल ऐसे कवियों की आवश्यकता नही जो कविता को एक प्रकार का शगल समझते हैं। कविता कोई पदों और विशेष शब्दो की योजना नहीं है। कवि का कार्य प्रेस के कम्पोजीटर से ऊँचा है। कवि सच्चा कर्ता है। कवि का काम केवल अनुकरण करना ही नहीं, वरन् उत्पादन करना है। उसकी दृष्टि विश्वव्यापिनी होती है, वह मानव हृदय के गुह्यातिगुह्य कोण में प्रवेश कर उसका मर्म जान लेती है और अपनी भाषा में उसे

सहृदय जनों तक पहुँचा देती है। कहा भी है कि जहा न जाय रवि तहा पहुँचे कवि। कवि केवल वही नहीं है जो छद रचना कर सके वरन् कवि की सी प्रकृति रखने वाले सभी कवि कहलाते हैं। कवि और कवि की सी प्रकृति रखने वाले पुरुषों की समाज में सदा आवश्यकता रहती है। जो सहृदय समाज और प्रकृति को ईश्वरीय रचना रूप से देखकर उसमे अपना सेवा भाव रखते हैं और अपने अस्तित्व से ससार और समाज का अस्तित्व चिरस्थायी और सुखमय बनाने का प्रयत्न करते हैं, अपने हृदय से निकले हुए दिव्य सदेश को चारों ओर पहुँचाकर प्रात कालीन मुदित विहगों के कलरव से ससार की जागृति का परिचय देते हैं, वही धन्य हैं, वही देश और समाज का मुख उज्ज्वल करते हैं और उन्हीं का यश शरीर जरा मरण के भय से मुक्त रहता है। ऐसे ही कवियों के लिए महात्मा भर्तृहरि ने कहा है —

जयति ते सुकृतिनो रस सिद्धा कवीश्वरा
नास्ति येषां यश काये जरा मरणज भयम्।

अंतर्नाद

[श्री वियोगी हरि]

बाँसुरी—

क्या फिर कभी बजेगी वह बाँसुरी ? सुनी तो एक ही बार थी, पर उसकी प्रतिध्वनि आज भी इस अँधेरे शून्य हृदयागार में गूँज रही है। समझ में नहीं आता उस फूक मे क्या जादू भरा था।

शिशिर के दिन थे। लजवंती प्रतीची को एक झीनी लाल साड़ी पहनाकर भगवान् भुवन-भास्कर क्षितिज पार कर चुके थे। सुहागिनी प्राची के ललाम ललाट पर कुमुदिनी कांत सौभाग्य-सिंदूर लगा रहे थे। गो-धूलि आच्छादित आकाश मकरंद मंडित पुष्पोद्यान-सा प्रतीत होता था। चिड़ियाँ चहचहाती हुई वृक्षों के अंक में बसेरा लेने जा रही थीं। ठंड के मारे निराश्रय जीव-जंतु आश्रय ढूँढ रहे थे। देखते देखते चारों ओर सन्नाटा छा गया।

उन दिनों मेरी कुटिया, उत्तराखंड मे, एक बीहड़ पहाड़ी के सामने थी। आस पास टीले-ही-टीले थे। नीचे एक चुलबुला नाला कूद फाँद कर रहा था, जिसकी विलोल लहरें प्राय कुटिया के चबूतरे के साथ अठखेलियाँ किया करती थीं।

उस रमणीय सध्या को चबूतरे पर निरुद्देश सा बैठा हुआ मैं सामने के ऊचे शिखरों की ओर टक लगाए देख रहा था। स्वच्छ चाँदनी से निखरे हुए हिमाच्छादित श्वेत-शिखर ऐरावत के दाँत में होड लगा रहे थे। बैठा-बैठा मैं, न जाने, किस उधेड बुन में लग गया। मेरी विचार शक्ति प्रतिक्षण क्षीण होती जाती थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानो मैं किसी गहरे अधकूप में डूबता जा रहा हूँ।

एकाएक किसी स्वर्गीय स्वर ने मेरी ध्यान मुद्रा भग करदी। स्वर बाँसुरी का सा था। पीछे निश्चय भी हो गया कि कहीं से बाँसुरी की ही ध्वनि आ रही है। वह उल्लसित स्वर लहरी उस प्रशात नभोमडल में विद्युत की भाति दौडने लगी। हृदय लहरा उठा। शिखर मुस्कराने लगे। चद्रमा पुलकित हो गया। परिमल ग्राही पवन प्रणय सकेत करने लगा। दिग्वधुएँ घूघट हटा झाँकने लगीं। नाला भी निस्तब्ध हो गया। पत्तियाँ थिरकने लगीं। मुग्ध प्रकृति के सलज्ज मुख पर एक अनुपम माधुरी कलिका मुकुलित हो उठी। यह सब उसी मोहिनी ध्वनि का प्रभाव था। तो फिर मैं उसे नव सृष्टि विधायिनी क्यों न कहूँ ?

हाँ, अवश्य ही उस बाँसुरी की तान में नवीन सृष्टि विधान का अद्भुत उपादान था। ऐसा न होता तो उस स्वर लहरी का आलिगन कर प्रस्तर-खड क्यों पसीज उठते ? कठोर हृदया

विभावरी के तारक नेत्रों में प्रेमाश्रु क्यों छलक आते ? वनश्री का धूमिल अंचल अनुराग रंजित क्यों हो जाता ? मेरा पाप परितप्त मलिन हृदय दूध की धारा से पखार कर कौन शीतल और निर्मल करता ?

वंशी-ध्वनि बराबर उसी ओर से आ रही थी। कभी-कभी तो कानों के अत्यंत समीप जान पड़ती थी। उस समय मेरा मन हाथ में नहीं था। रह-रह कर उछल-सा रहा था। वंशी बजाने वाला कौन है, कैसा है, कहाँ है, कैसे मिलेगा—आदि प्रश्नों में उलझकर बेचारा अधीर हो उठा। उस रँगीले जादूगर की तरफ बेचारा खिंचा-सा जा रहा था। चाहा कि कुटिया छोड़कर वंशीवाले की इधर-उधर टोह लगाऊँ, पर उठ न सका। शरीर जकड़-सा गया। क्या वश! अधीर आँखें कानों को कोसती हुई, बिना पानी की मछलियों की तरह, छटपटाने लगीं।

वंशीवाले! तुम चाहे जो हो, पर हो पूरे निर्दय ? आँखों से ओट ही रहना था, तो बाँसुरी क्यों फूँकी ? किसने कहा था कि बाँसुरी बजाकर मुझे कुछ-का कुछ कर दो! मेरा पहले का जीवन क्या बुरा था ? कम-से-कम यह पागलपन तो सवार न था। दिल में न कोई दर्द था, न कसक थी, न आँखों मे यह जहरीला नशा। न ऊधौ का देना था, न माधौ का लेना।

खैर, जो हुआ सो हुआ। अब अपना दरस कब दोगे, प्यारे ? वह मोहिनी मुरली कब फूँकोगे, मोहन ?

आँख खोल—

तू कैसा भारतीय उपासक है ? पड़े पड़े कैसे काम चलेगा ? उठ, आँख खोल। देख, प्रभात होने ही वाला है। यह ब्रह्म-वेला है। आत्मानुभूति की जन्म भूमि यही वेला है। प्राची के अर्द्ध-विकसित सरल हास की ओर तो दृष्टिपात कर। क्या ही अनुपम आभा है। प्रकृति के शुभ्र दर्पण में अनुराग रंजिता उषा की उद्भावना कैसी प्रतिबिम्बित हो रही है। धन्य है वह चतुर चित्रकार, जिसने अनत आकाश के प्रशांत पट्ट पर यह दिव्य आलोक रेखा अंकित कर दी है। विहग कुल का स्वर-समूह तो निराला ही है। इसी नाद नदी के तीर्थ सलिल में निमज्जन कर कवि की अंतर्ध्वनि अपने को कृतार्थ मानती है। नन्दित इस ध्यानावस्थित समीर की आराधना तो देख। ब्रह्म वेला की ऐसी स्वर्गीय आराधना और किसमें बनेगी ? समीर की तरल तरंगों में ये परिमल-कण कैसा कल्लोल कला में अभ्रय उन्माद और अनत जीवन का निगूढ़तम रहस्य अंतर्हित है।

अहा ! क्या ही मनोहर दृश्य ! आर्य-संस्कृति की पुनीत पताका क्या कभी फहराती देखी है ? यदि नहीं, तो अब देख। यह किसी पुण्य सलिला तटिनी का तट है। स्वर्गानुभावित कर्म-भूमि का अभिषेक इसी जल से हुआ था। ब्रह्मानन्द की सुगंध गाथा इसी अनादि तरंगिणी की तरंग-तंत्री से प्रतिध्वनित हुई थी। वेदवाणी को इसी तीर पर ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ था।

इन उपासकों की कैसी सरल शुद्ध उपासना है ! प्रथम प्रभात का दर्शन इन्हीं महात्माओं ने किया था। जीवन संग्राम में इन आत्म-वीरों ने अभूतपूर्व विक्रम से विजय-वैजयन्ती उड़ाई थी। विश्व-प्रेम का अमोघ मन्त्र इन्हीं विश्व-वन्द्य महापुरुषों के पाद-प्रक्षालन से मिलेगा, अन्यथा नहीं। अतएव उठकर एकबार प्रणतभाव से इनके चरणों पर श्रद्धाजलि चढ़ा। ये प्रसन्न होकर तुझे 'ब्राह्मी स्थिति' का साक्षात्कार करा देंगे।

तू कैसा महाभारतीय सैनिक है ! पड़े पड़े कैसे काम चलेगा? उठ, आँख खोल। देख, युद्धारम्भ होने ही वाला है। यह विप्लव-वेला है। क्रान्ति की काली काली घटाऐं घिरने लगी हैं। कैसा विकराल वातावरण है ! दनुज दल मर्दिनी रणचंडी समर-भूमि पर ताडव नृत्य करने जा रही है। क्या तुझे उसके लोक-प्रकपन नूपुरों का छम-छम शब्द सुनाई नहीं देता ? उद्भ्रान्त दिशाएँ थर थर काँप रही हैं। ब्रह्माड विक्षिप्त हो उठा है। समस्त जीव जन्तु त्रस्त हो रहे हैं। प्रशांत नभोमडल के वज्रोपम वक्षः-स्थल पर विप्लव की रेखाएँ खचित हो गई हैं। थोड़ी ही देर में तेरे आस पास नगी तलवारें बिजली की तरह चमकने लगेंगी। सुना है, उन तलवारों पर पद दलित दुर्बलों के गर्म आँसुओं का विषाक्त पानी चढ़ाया गया है। ओह ! कितनी भीषण तोपें गभीर गर्जना कर धधकते हुए गोले उगलेंगी, उनका ब्रह्माड भेदी शब्द असहाय दीनों के आर्तनाद का रूपांतर होगा। तेरे देखते-ही-

देखते यहाँ ज्वलत ज्वालामुखी फट पडे गे। कहते हैं, उन अग्नि-गर्भ पर्वतों का निर्माण प्राणावशेष पीडित अस्थि कङ्कालों की घुआँधार आहों से हुआ है! कुसुम-कलिका से वज्रोत्पत्ति होगी!!

लो, शख फूँक दिया गया! रणघोषणा कर दी गयी! लाल झडे फहरा उठे। शिविर में हलचल मच गयी। कवच और शिरस्त्राण खड़खडाने लगे। अस्त्रागार की ओर कितने ही लोग दौडे जा रहे हैं। कितनी मशालें बल रही है! कोई किसी से बोलता नहीं। सकेत से ही बातें हो रही हैं। अरे, यह अग्निकाड कैसा? पूछना व्यर्थ है। इस घोर विप्लव में कौन किसकी सुनता है? यह देख, अग्निमुख तोपें दुर्भेद्य दुर्गों को धराशायी करने की तैयारियाँ करने लगीं। उधर तलवारें भी कृतात की जीभों की तरह लपलपा रही हैं। वीर सैनिक कैसे झूमते हुए आगे बढ रहे हैं। उनका हुँकार दिशाओं को चीरे डालता है। इन्हीं सर्वस्व त्यागियों ने प्राणों का मूल्य जाना है। और तू? धिक्कार है तुझे, जो अब भी बिछौने पर करवट बदल रहा है।

कैसे आ गये ?

कैसे आ गये हमारे खेलने के आगन में? हमारी यह विनोद-स्थली, एक दिन, आनद की जन्मभूमि मानी जाती थी। प्रेय और श्रेय का यहाँ प्रति दिन मिलन होता था। हम यहाँ खूब हँसते-बोलते, मिलते-जुलते और खेलते-कूदते थे। हमारे प्रत्येक खेल में सत्कल्पना, सरलता, सुदरता, और भव्यभावना झलकती थी।

राग और द्वेष का तो कभी हमने नाम भी न सुना था। इस अभागे आँगन को हमने, चन्द्र-ज्योत्स्ना की धवल धारा से धोकर, स्फटिक सा शुभ्र बना दिया था। यहाँ हम कभी नव-विकसित कुसुम कलियों की मालाएँ गूँथ-गूँथ कर पहनते थे, कभी ओस की तरल बूंदों को कमल तंतुओं में पिरो-पिरो कर अपनी उलझी हुई अलकों पर लटका देते थे, कभी स्मित चन्द्र-बिंब को गेंद बना कर उछालते थे, कभी प्रभात-समीर के हलके हिंडोले पर झूला करते थे और कभी अन्तर्वीणा के मधुर स्वर में मुक्त-गीत गाते थे। उस समय हमारी वज्र-भुजाओं में अखंड पराक्रम भरा था। विकसित मुख कमल पर अक्षत पराग झलकता था। सरस हृदय में सद्भावों का स्रोत उमड़ा था और बड़े बड़े नेत्रों में अग्नि शिखा-सी प्रज्वलित रहती थी। हम ऐसे खिलाड़ी थे कि हमने इस अनंत विश्व को ही एक खेलवाड़ सा समझ रक्खा था। पर कौन जानता था कि यह आकस्मिक प्रवेश हमारे इस आँगन को अपवित्र और कलुषित कर देगा? तुम हमारा खेल देखने आये थे। अच्छा खेल देखा! आज न यहाँ वह प्राकृतिक छटा है, न वह कल्लोल की स्वाभाविक स्वच्छंदता। आज हम व्यर्थ का काम करने के लिए इस सर्वनाशिनी कृत्रिम कर्मण्यता के हल में कोल्हू के बैल की तरह, जोत दिये गये हैं। आज हमारे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक—तीनों ही—विकासों पर कुठाराघात हुआ है। जिस

सुविस्तीर्ण विश्व को हम खेलवाड़ मात्र समझते थे, आज वह कारागार सा भयावह देख पड़ता है ! इतने पर तुम यह घोषणा करते फिरते हो कि हम तुम्हें स्वावलम्बन और स्वतंत्रता का पाठ पढ़ाने आये हैं !

कैसे आ गये हमारे इस उद्यान में ? एक दिन यह उद्यान नंदनवन से होड़ लगाता था । यहाँ की रत्नगर्भा स्वर्णभूमि का उपभोग करने के लिए अमरावती के निवासी भी लालायित रहते थे । सुना है, इस शस्यश्यामला वसुधरा पर दूध की नदियाँ बहती थीं । इस सुरम्य उद्यान में बारह मास वसंत रहता था । रंग बिरंगे फूलों की क्यारियाँ आदि नटी प्रकृति के अभिनय कौशल का एक उज्ज्वल आदर्श उपस्थित करती थीं । हरित और लहलहे फलित वृक्षों की सघन छाया ने कितने ही परिश्रांत पथिकों का पसीना पोंछ-पोंछ कर उन्हें विश्रांति सुख न दिया होगा ? शीतल समीर के सुमृदु सरस स्पर्श ने कितनों का आतिथ्य न स्वीकारा होगा ? इस उद्यान में कहीं स्वच्छंद मृग शावक चौकड़ी भरते थे, तो कहीं छाया में बैठ कर गोवत्स तृण टुंगा करते थे । उन्मत्त विहग-कुल अलग ही, वृक्षों के स्नेह अंक पर कूजन और किल्लोल किया करता था । हम लोग भी आनंदोन्मत्त हो इस स्वर्गाराम में विचरते हुए, स्वतंत्रता की रागिनी अलापा करते थे । पर यह कौन जानता था कि तुम्हारा यह कुप्रवेश इस हरे भरे उद्यान को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा ? तुम इसमें सैर करने आये

थे। अच्छे सैलानी निकले ! जिन रत्नों का हमको भी पता न था, वे भी खोद-खोद कर निकाल लिये गये ! सारा नंदनवन उजाड़ हो गया। वृक्षों में एक भी फल न बचा। दुग्ध परिषिक्त भूमि पर मदिरा का छिड़काव कर दिया गया। जिस स्वार्थ-परता और निर्दयता से इस स्वर्गीय उद्यान का चौपट हुआ है, उसे या तो हम जानते हैं या घट-घटवासी परमात्मा। इतने पर यह बकते फिरते हो कि हम माली बनकर तुम्हारे ऊजड़ बाग की रखवाली करने आये हैं।

कैसे आ गये हमारे राज-महलों में ? ये महल एक दिन महेन्द्रभवन पर हँसते थे। हम लोगों ने इन खँडहरों में जैसी राजसी भोगी, कोई क्या भोगेगा ? उस काल संसार के समस्त साम्राज्य हमारे सामने उच्छिष्ट माने जाते थे। इन महलों की प्राचीन चित्र-कला आज भी हमारे उन्नत गौरव की सूचना दे रही है। किसी दिन इन टूटे-फूटे कँगूरों से स्वर्गीय सुख आलिंगन करने आये थे। लक्ष्मी और सरस्वती की विहारस्थली इसी लीला भूमि पर थी। रणचंडी के कराल खड्ग ने यहीं अट्टहास किया था। सूर्य की उज्ज्वल किरणों ने न्याय विधान को अभिषिक्त कर सबसे पहले यहीं प्रतिष्ठित किया था। पर यह कौन जानता था कि यह पाशविक प्रवेश इन राजमहलों की ऐसी दुर्दशा कर डालेगा ? तुम हमारे अतिथि होकर आये थे। अच्छे अतिथि निकले ! हमको निकाल कर स्वयं ही गृहपति

बन बैठे ! आज न वह रत्न सिंहासन पर ही दिखाई देता है न वे मणि-मालायें हीं । मणियों के स्थान पर काँच की किरचें, और सोने चाँदी के बदले टीन के खिलौने, निस्सदेह सजा दिये गये हैं। जहाँ तहाँ मदिरा के प्याले और मास की रकाबियाँ भी रख दी हैं। इन महलों का तो रूप ही बदल गया। और फिर हमारा क्या हुआ, हमही जानते हैं। कहने को हम आज भी इन महलो में रहते हैं, पर किस प्रकार ? कैदियो की तरह ! और किस प्रकार कोप लुट चुका है, शक्ति छिन्न भिन्न हो गई है, हृदय विलास-प्रिय बना दिया गया है और आत्मा पर डाल दी गई है एक काली चादर ! इतने पर यह दावा करते हो कि हम तुम्हें शिष्ट और योग्य बनाने आये हैं !

कैसे आ गये हमारे आराधना मदिर में ? यह मदिर एक दिन 'सत्य शिव सु दर' का अधिष्ठान था । ज्ञानोन्य सबसे पहले यहीं हुआ था । आराधकों ने अतर्नाद द्वारा इस मदिर की प्राण प्रतिष्ठा की थी। उन्होंने ज्ञान, भक्ति और कर्म में यहीं समन्वय किया था । स्वच्छ परिमल वाही पवन ने यहीं से 'मुक्तिमत्र' लेकर विश्व के कान में फूँका था । हम इस मदिर के आराधक होने में अपने को परम् कृतार्थ समझते थे । पर, यह कौन जानता था कि तुम्हारा अपवित्र पदार्पण इस दिव्य मदिर को पैशाचिक कांडों का अड्डा बना देगा ? तुम यहाँ साधक होकर आये थे । अच्छी साधना की ! किसने कहा था कि तुम इस मदिर की सफेद दीवारों पर विषय वासना की कालिमा पोत दो,

धर्म ग्रथोंको हमारे हाथ से छीनकर रास्ते पर फेक दो, या हमारी फूलो की डलिया देवता के आगे से हटाकर अपने पैरों से कुचल डालो ? तुम्हारे पदार्पण ने मदिर को मदिरालय, श्रद्धा को अधता, साधना को कवि-कल्पना, और धर्म को आडबर बना डाला। हमारी प्राणाधिक आस्तिकता भी आज चौपट कर दी गयी। आज न हम लोक के रहे, न परलोक के। इतने पर यह कहनेका दुस्साहस करते हो कि हम तुम्हें निर्मल, उदार और धार्मिक बनाने आये हैं।

अछूत

"अछूत। अछूत !!"

"हैं। अछूत यह है या तुम ?"

"यही काला कलूटा जो सामने खडा है। हम लोगो को कौन अछूत कह सकता है ?"

"इसे—इस पद-दलित गरीब को अछूत मान लेने का आदेश तुम्हे किस न्यायाधीश के इजलास से प्राप्त हुआ है ? इस अछूत आईन की प्रसविनी किस व्यवस्थापक की लेखनी है ? किस निर्णायक ने तुम्हे यह निर्णय दे रखा है ?"

"आदेश। व्यवस्था। निर्णय !! तुम्हे यह सब पूछने का क्या अधिकार है ?"

"संभव है, तुमने कभी स्वार्थ स्वप्न में किसी न्यायाधीश व्यवस्थापक अथवा निर्णायक की प्रतिच्छाया देखी हो। पर,

सावधान ! वह न्यायाधीश नहीं, शैतान का कोई वचक वकील होगा, व्यवस्थापक नहीं, शाति विच्छेद करने वाला कोई आततायी होगा, निर्णायक नहीं, अध पतन का पासा फेंकनेवाला कोई चतुर जुआरी होगा। सावधान वह न्यायालय नहीं, माया-मदिर होगा , व्यवस्था भवन नहीं, वचना-गृह होगा , निर्णय-निकेतन नहीं, गोलमाल का अड्डा होगा।"

"निरे निरक्षर हो, सुधारक ! धर्मशास्त्र के एक भी सूत्र पर मनन किया होता, तो आज ऐसी ऊट पटाँग बातें न बकते फिरते।"

"सुनो, सुनो। सच बात तो यह है कि क्रिया के साथ ही प्रतिक्रिया की प्राण प्रतिष्ठा हो जाया करती है। पर, तुम लोग इस महा महासूत्र से नितात अनभिज्ञ हो। इस व्यवहारिक सिद्धात पर तुमने जरा भी दिमाग खर्च किया होता, तो आज विश्व के 'स्वतत्र्य सदन' में तुम्हारा और तुम्हारे समाज का बहिष्कार ही क्यों किया जाता। तुम्हीं बताओ, आज मानव समाज में तुम छूत हो या अछूत ? न्यायावतार ! समाज के चित्र पट्ट पर केवल इसे ही क्यों काली रेखाओं से अकित किया है ?"

"क्योंकि यह जन्म से ही घृणास्पद, पतित और अस्पृश्य है। इसके सस्कार पूर्व-जन्म से ही नीच हैं। हमारी बराबरी कैसे कर सकता है ? इसके स्पर्श से हमारे पैरो की धूल तक अछूत हो जाती है। ससार में यदि कहीं स्वच्छता, उज्ज्वलता

और उच्चता है, तो वह हमारे द्विज-समाज मे ही है, अन्यत्र नहीं।"

"ढोंग, निरा ढोंग। इस दम्भाचार को क्या स्वच्छता, उज्ज्वलता और उच्चता कहते हैं? अतरात्मा के दर्पण में, तनिक, अपना रूप तो देखो, महाराज! कितनी मलिनता है! छिद्रान्वेपण का काजल आँजते आँजते तुम्हारे ओजस्वी नेत्र निष्प्रभ हो चुके हैं, पर तुम्हें उनके विकृत सौंदर्य पर शायद अब भी, अशेप गर्व है। पहले तुम्हारा मुखकमल कैसा प्रफुल्लित रहता था। सहृदयता का वह पराग ही कुछ और था। आज तुम्हारी काति कहाँ गयी? तुम्हारा काचन वर्ण शरीर आज अकारण द्वेप से झुलस-सा गया है। यह झुर्रियाँ दूसरों पर व्यर्थ घृणा करते करते ही पड गयी हैं। विचार-सकीर्णता ने ही तुम्हारे शत्रु और उन्नत अगों को निर्बल और जर्जरित कर दिया है। भले ही तुम नख से शिख तक दभ का इत्र पोते रहो, पर दुर्गंध की यह विपाक्त लहर, एक न एक दिन, तुम्हारे जीवन के अतस्थल में व्याप्त हो कर ही रहेगी। इस मूक अछूत का अमोघ अभिशाप निश्चय ही तुम्हे उच्चता के विमान से च्युत करके रसातल में फेंक देगा।"

"इस नीच पतित का अभिशाप! तब तो यह विश्वामित्र और दुर्वासा को मात कर देगा!

सदेह क्या! अस्तु। कुछ भी हो, तुम अपनी पुरानी लकीर

पोटते ही जाना। भूलकर भी मिथ्याचारों मे मुख न मोडना; क्योंकि इन्हीं ढोंगों की बदौलत तुम छूत, ऊँच और लब्ध-प्रतिष्ठ बन गये हो। मूर्ख तो यही अभागा है। इसी मे तो इसका अमल अग अस्पृश्यता के आभूषणों से अलकृत किया गया है! मूढ ने व्यर्थ ही कपट के साथ बैर बिसाह लिया। सदाचरण को अकारण ही अपना सुहृद बनाया। कैसा पागल है! पुरस्कार की उपेक्षा करके दया और सेवा को योंही युगानुयुगो से अपनाये बैठा है! तुम्हारी तरह यह शाब्दिक आस्तिक भी तो नहीं। हिसाब किताब मे बिलकुल ही कोरा है। यही कारण है, कि धर्म विधानों का जबानी जमाखर्च नहीं रख सकता और अब भी, मनुष्योचित हार्दिक भावों का अपव्यय किया करता है। देवाधिदेव! तुम्हारे श्रीपाद पद्म समीपेषु रहते हुए भी इस कुदजहन ने सनातन समाज-व्यापी स्वार्थवाद का यथेष्ट अध्ययन नहीं किया। तभी तो आज तिरस्कृत और पद दलित होकर मारा-मारा फिर रहा है।"

"कहते जाओ! सुन रहा हूँ।"

"क्या लाभ! तुम्हारे आगे यह सारा कथनोपकथन अरण्य रोदन से कुछ अधिक मूल्य नहीं रखता। हाँ, इस दुर्मति ने व्यर्थ ही पसीना बहा बहाकर, जीवन भर, सूखी रूखी रोटियों से अपना पापी पेट भरा। मुफ्त का माल हड़प जाने को परा विद्या सीख जाता, तो आज इसकी तोंद तुम्हारी ही जैसी

सचिक्कण, पीन और दिव्य दिखायी देती। धर्म-धुरंधरता की कलित कला में पारगत होता, तो आज यह भी, तुम्हारी ही भाँति, सब कुछ करता हुआ भी 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' निर्लेप रहता। बेचारा निर्बल है, निराश्रय है, तुम्हारे ब्रह्मास्त्र का सामना कैसे कर सकता है ? धर्मशास्त्र तुम्हारा, व्यवस्था तुम्हारी, आचार्यता तुम्हारी और वेदोक्त ईश्वर भी तुम्हारा। जहाँ देखो वहाँ तुम्हारा ही बोलबाला है। इस एकाधिकार से नि संदेह तुम फूले न समाते होगे। और चाहे जो करो, पर दया करके समदर्शी ईश्वर के नाम पर तो धाँधली न मचाओ, कृपानिधान ! वह तुम्हारी बपौती नहीं है। ईश्वरीय विधान और न्याय के तुम्हीं एकमात्र ठेकेदार नहीं हो। न्यायावतार ! आँखें क्यों बंद कर ली ? क्या सोच रहे हो ?"

"धोखा ! धोखा !!"

"कैसा धोखा ?"

"अतस्थल के स्फटिक मदिर में देख रहा हूँ, धोखा ! इन घृणित और पददलित अछूतों को परमात्मा कैसे स्नेह से भेंट रहा है ! वास्तव में, वह पतित-पावन है—दुर्लभ बधु है ! इतने दिनों बाद कहीं मेरी आज आँखें खुलीं।"

"अब तो न कभी इसे अछूत कहोगे ?"

"कभी नहीं, स्वप्न में भी नहीं।"